मेरी कहानी

तीसरे संस्करण के लिए

मुझे खुशी है कि 'मेरी कहानी' का तीसरा संस्करण, और सो भी बहुत सस्ता, इतनी जल्दी प्रकाशित करने का दिन आगया। यह इसकी लोक-प्रियता का अच्छा प्रमाण है। इसमें मैंने नीचे लिखे मुताबिक सुधार करने और बढ़ाने की कोशिश की है—

१—पिछले संस्करणों में जहाँ-कहीं सख्त उर्दू-फ़ारसी के शब्द आ गये थे उनकी जगह बोलचाल की हिन्दी के शब्द डाले गये हैं।

२—श्री महादेव देसाई ने गुजराती अनुवाद में बहुत उपयोगी फुटनोट दिये हैं, जिनसे बहुत-सी बातें साफ़ हो जाती हैं। उनमें से अधिकांश इस संस्करण में जोड़ दिये गये हैं।

३—कुछ पद्यानुवाद बदल दिये गये हैं और कुछ नये दाखिल किये गये हैं।

इतनी विशेषताओं के बाद भी इस संस्करण का दाम सिर्फ़ २।।) रक्खा गया है। आशा है, 'मण्डल' के इस उद्योग की हिन्दी-भाषी भाई-बहन यथोचित क़द्र करेंगे।

इसे सस्ता बनाने में श्री जवाहरलालजी ने अपनी रॉयल्टी आधी करके तथा 'हिन्दुस्तान टाइम्स प्रेस' ने छपाई के दर में कमी करके 'मण्डल' को जो सहायता पहुँचायी है उसका 'मण्डल' बहुत कृतज्ञ है। श्री महादेवभाई के गुजराती अनुवाद से मैंने जो पूर्वोक्त लाभ उठाया है उसके लिए उनका भी आभार प्रदर्शित करना जरूरी है।

इस संस्करण की तैयारी में मुझे अपने साथी श्री सुधीन्द्र एम्० ए० 'साहित्यरत्न' की भी ठीक सहायता मिली है।

गांधी-जयन्ती,
१९३८

हरिभाऊ उपाध्याय

पहले संस्करण की भूमिका

आज, जब कि पूर्व-प्रकाशित सूचना के अनुसार इस पुस्तक को पाठकों के हाथों में पहुँचे एक महीना हो जाना चाहिए था, मैं अपना यह प्रारम्भिक निवेदन लिखने बैठा हूँ। समझ में नहीं आता, इस देरी के लिए किस प्रकार क्षमा माँगूं? एक तो वैसे ही स्वास्थ्य कुछ बहुत नहीं अच्छा रहता, फिर दूसरी ओर ज़िम्मेदारियों का बोझ भी सिर पर था, जो इस अधमरे शरीर को थका देने के लिए काफ़ी था। ऐसी दशा में श्री जवाहरलाल-जी की 'आत्म-कथा' के अनुवाद और सम्पादन के काम की ज़िम्मेदारी मेरे लिए दुःसाहस की बात थी। लेकिन पागल भावुकता का क्या इलाज? बापूजी—महात्माजी—की 'आत्मकथा' के अनुवाद का जब सुवसर मिला तो उसको मैंने अपना अहोभाग्य समझा। अब अपने मान्य राष्ट्रपति की जीवन-कथा के अनुवाद का सुसंयोग आने पर इस गौरव से अपने को वञ्चित रखने की कल्पना ही कैसे हो सकती थी? इसलिए जब 'सस्ता साहित्य मण्डल' ने कांग्रेस-इतिहास के दोनों संस्करणों के अनुवाद और संपादन के बाद ही यह ज़िम्मेदारी भी उठाने के लिए मुझसे कहा तो मैंने फौरन उसे स्वीकार कर लिया और इस ख़याल से कि काम जल्दी और समय पर ख़त्म हो जाय, अनुवाद में शक्ति से अधिक मेहनत करने लगा। नतीजा यह हुआ कि आगे चलकर शरीर ने जवाब दे दिया और गाड़ी अधबीच में ही रुक गयी। लेकिन काम को जल्दी ख़त्म करने और पुस्तक जल्दी प्रकाशित करने की चिन्ता होना स्वाभाविक ही था। और स्वास्थ्य इतना अधिक गिर गया था, कि मैं डर गया। लेकिन मेरे मित्र प्रो॰ गोकुललालजी असावा तथा भाई शंकरलालजी वर्मा (मन्त्री-

प्रान्तीय कांग्रेस कमिटी, अजमेर) ने तुरन्त ही मुझे इस चिन्ता-भार से बचा लिया। प्रो० गोकुललालजी तो 'कांग्रेस-इतिहास' की तरह शुरू से ही इस काम में भी मेरी मदद कर रहे थे। इसबार इस समय भाई शंकरलालजी भी मेरी मदद पर आ गये। यह इन दोनों के सहयोग और सहायता का ही परिणाम है कि पुस्तक का काम जल्दी पूरा हो गया। इसके लिए मैं इनका बहुत आभारी हूँ।

अनुवाद के सिलसिले में मुझे भाई श्रीकृष्णदत्तजी पालीवाल (एम०एल०ए० केन्द्रीय) भाई गोपीकृष्णजी विजयवर्गीय (प्रधान मंत्री, इन्दौर-राज्य-प्रजा-मण्डल) और श्री चन्द्रगुप्तजी वार्ष्णेय (अजमेर) से भी सहायता मिली है, और फ्रेन्च उद्धरणों का अंग्रेजी भाषान्तर स्वयं मूल लेखक तथा पूज्य डॉ० हरि रामचन्द्रजी दिवेकर (गवालियर) ने किया है। इसके लिए मैं इन सबका अत्यन्त आभारी हूँ।

भाई श्री वियोगी हरिजी ने कविता-क्षेत्र से अलग हट जाने पर भी मेरे अनुरोध पर, इस पुस्तक की कविता के हिन्दी-अनुवादों का संशोधन करने की कृपा की है। श्री मुकुटविहारी वर्मा ने इस काम को अपना ही काम समझकर प्रूफ-संशोधन और कहीं-कहीं भाषा-सम्बन्धी संशोधन आदि में शुरू से ही सहायता दी है। अतः इन दोनों का भी मैं हृदय से कृतज्ञ हूँ।

कुछ शब्द अनुवाद की भाषा के सम्बन्ध में भी। मैं सरल और बोल-चाल की भाषा—जिसे पूज्य बापूजी ने 'हिन्दी-हिन्दुस्तानी' नाम दिया है, और जो असली राष्ट्रभाषा कही जा सकती है—लिखने का पक्षपाती हूँ। इस पुस्तक के जरिये मैं उसका एक नमूना पेश करना चाहता था। लेकिन अफ़सोस है कि प्रकाशन की जल्दी और अपनी बीमारी की वजह से मैं शुरू से अखीर तक उसे निबाह न सका। फिर

भी जहाँतक सम्भव हो सकता था उसके सरल बनाने और भाषान्तर के सही होने का पूरा ख़याल रक्खा गया है। इतना सब कुछ करने पर भी कहीं-कहीं ग़लतियाँ और मतभेद की आशंका रहना मुमकिन है। इसलिए कृपालु पाठकों से मेरा अनुरोध है कि जो भूलें उनकी निगाह में आवें उनपर मेरा ध्यान दिलाने की मेहरबानी करें, जिससे दूसरे संस्करण में उनका सुधार किया जा सके।

अनुवाद की भाषा में प्रचलित हिन्दी, उर्दू और अंग्रेज़ी शब्दों का खुलकर प्रयोग हुआ है। सम्भव है, कुछ रूढ़ि-चुस्त लोगों को वह पसन्द न आवे। लेकिन अनुवाद का पहला फ़ार्म ख़ुद जवाहरलालजी ने देख लिया था और उसकी भाषा को उन्होंने पसन्द किया था। उससे मुझे काफ़ी उत्साह मिला था। अगर सारी पुस्तक पंडितजी को पसन्द आ गयी तो मुझे बड़ा संतोष मिलेगा; क्योंकि मैं वर्तमान भारत की बहुतेरी आवश्यकताओं को पंडितजी की राय में बोलता हुआ पाता हूँ।

गांधी-आश्रम, हटुंडी (अजमेर)
गांधी-जयन्ती, १९३६.

हरिभाऊ उपाध्याय

प्रस्तावना

यह सारी किताब, सिर्फ़ एकाध आख़िरी बात और चन्द मामूली रद्दोबदल के अलावा, जून १९३४ से फ़रवरी १९३५ के बीच, जेल में ही लिखी गयी है। इसके लिखने का ख़ास मक़सद यह था कि मैं किसी निश्चित काम में लग जाऊँ, जो कि जेल-जीवन की तनहाई के पहाड़-से दिन काटने के लिए बहुत ज़रूरी होता है। साथ ही मैं पिछले दिनों की हिन्दुस्तान की उन घटनाओं का ऊहापोह भी कर लेना चाहता था, जिनसे मेरा ताल्लुक रहा है ताकि उनके बारे में मैं स्पष्टता के साथ सोच सकूँ। आत्म-जिज्ञासा के भाव से मैंने इसे शुरू किया और, बहुत हद तक, यही क्रम बराबर जारी रक्खा है। पढ़नेवालों का ख़याल रखकर ही मैंने सब-कुछ लिखा हो, सो बात नहीं है; लेकिन अगर पढ़नेवालों का ध्यान आया भी, तो पहले अपने ही देश के लोगों का आया है। विदेशी पाठकों का ख़याल करके लिखता तो शायद मैंने इससे मुख्तलिफ़ रूप में इसे लिखा होता, या दूसरी ही बातों पर ज्यादा ज़ोर दिया होता। उस हालत में, जिन कुछ बातों को इसमें मैंने योंही टाल दिया है, उनपर ज़ोर देता, और दूसरी जिन बातों को कुछ विस्तार से लिखा है उन्हें महज़ सरसरी तौर पर लिखता। मुमकिन है कि बाहरवालों को उनमें से ज्यादातर बातों से दिलचस्पी न हो, जिन्हें मैंने तफ़सील में लिखा है, और वे उनके लिए अनावश्यक या इतनी खुली हुई बातें हों जिनके लिए बहस-मुबाहसे की कोई गुंजाइश नहीं है; लेकिन मैं समझता हूँ कि आज

के हिन्दुस्तान में उनका कुछ-न-कुछ महत्त्व ज़रूर है। इसी तरह हमारे देश के राजनैतिक मामलों और व्यक्तियों के बारे में बराबर जो कुछ लिखा गया है वह भी सम्भवतः बाहरवालों के लिए दिलचस्पी का विषय न हो।

मुझे उम्मीद है कि पाठक, इसे पढ़ते हुए, इस बात का खयाल रक्खेंगे कि यह किताब ऐसे समय में लिखी गयी है जो मेरी ज़िन्दगी का ख़ास तौर पर कष्टपूर्ण समय था। इसमें यह असर साफ़ तौर पर झलकता है। अगर इसकी बजाय और किसी मामूली वक्त में यह लिखी गयी होती तो यह कुछ और ही तरह लिखी जाती और कहीं-कहीं शायद ज्यादा संयत होती। मगर मैंने यही मुनासिब समझा कि यह जैसी है वैसी ही इसे रहने दूं, क्योंकि दूसरों को शायद वही रूप ज्यादा पसन्द हो, जिससे उन भावों का ठीक-ठीक परिचय मिलता हो जो इस किताब को लिखते वक्त मेरे दिमाग़ उठते थे। इसमें जहाँतक मुमकिन हो सकता था, मैंनें अपना मानसिक विकास अंकित करने का प्रयत्न किया है, हिन्दुस्तान के आधुनिक इतिहास का विवेचन नहीं। यह बात; कि यह किताब ऊपर से देखने पर उक्त विवेचन-सी मालूम होती है, पाठक को गुमराह कर सकती है, और इसलिए वह इसे उससे कहीं अधिक महत्त्व दे सकता है, जितने की कि यह मुस्तहक़ है। इसलिए मैं यह चेतावनी देना चाहता हूँ कि यह विवरण सर्वथा एकांगी—इकतर्फ़ा—है, और निश्चित रूप से, व्यक्तिगत है। अनेक महत्त्वपूर्ण घटनाओं की बिलकुल उपेक्षा कर दी गयी है, और कई प्रतिभाशाली व्यक्तियों का, जिनका कि घटनाओं के निर्माण में हाथ रहा है; उल्लेख तक नहीं हो पाया है। किन्हीं बीती हुई घटनाओं के असली विवेचना में ऐसा करना अक्षम्य होता, किन्तु एक व्यक्तिगत विवरण इसके लिए क्षमापात्र हो सकता है। जो लोग हमारे नजदीक भूतकाल की घटनाओं का ठीक-

ठीक अध्ययन करना चाहते हैं, उन्हें इसके लिए किसी दूसरे साधनों का सहारा लगाना होगा। लेकिन यह हो सकता है कि यह विवरण और ऐसी दूसरी कथायें उन्हें छूटी हुई कड़ियों को जोड़ने और कठोर तथ्य का अध्ययन करने में सहायक हो सकें।

मैंने अपने कुछ साथियों की, जिनके साथ मुझे बरसों काम करने का सौभाग्य रहा है, और जिनके प्रति मेरे हृदय में सबसे अधिक आदर और प्रेम है, खुली चर्चा की है; साथ ही समुदायों और व्यक्तियों की भी शायद और भी कड़ी आलोचना की है। मेरी यह आलोचना उनमें के अधिकतर के प्रति मेरे आदर को घटा नहीं सकती। लेकिन मुझे ऐसा लगा, कि जो लोग सार्वजनिक कामों में पड़ते हैं, उन्हें आपस में एक-दूसरे के और जनता के साथ, जिसकी कि वे सेवा करना चाहते हैं, स्पष्टवादिता से काम लेना चाहिए। दिखावटी शिष्टाचार और असमञ्जस और कभी-कभी परेशानी में डालनेवाले प्रश्नों को टाल देने से न तो हम एक-दूसरे को अच्छी तरह समझ सकते हैं, और न अपने सामने की समस्याओं का मर्म ही जान सकते हैं। आपस के मतभेदों और उन सब बातों के प्रति, जिनमें मतैक्य है, आदर और वस्तुस्थिति का, चाहे वह कितनी ही कठोर क्यों न हो, मुकाबिला ही हमारे वास्तविक सहयोग का आधार होना चाहिए। लेकिन मेरा विश्वास है कि मैंने जो कुछ भी लिखा है, उसमें किसी व्यक्ति के साथ किसी प्रकार के द्वेष या दुर्भाव का लेशमात्र भी नहीं है।

सरसरी तौर पर या अप्रत्यक्ष रूप से चर्चा करने के सिवा, मैंने भारत की मौजूदा समस्याओं के विवेचन को जान-बूझकर टाला है। जेल में मैं न तो इस स्थिति में था कि इनकी अच्छी तरह विवेचना कर सकूँ, न मैं अपने मन में यही निश्चय कर सकता था कि क्या किया

जाना चाहिए। जेल से छूटने के बाद भी मैंने उस सम्बन्ध में कुछ बढ़ाना ठीक नहीं समझा। मैं जो कुछ लिख चुका था, उसके यह अनुकूल नहीं जान पड़ा। इस तरह यह 'मेरी कहानी' एक व्यक्तिगत, और ऐसे अतीत के, जो वर्त्तमान के नजदीक किन्तु जो उसके सम्पर्क से सतर्कता-पूर्वक दूर है, अपूर्ण विवरणका रेखा-चित्र मात्र रह गयी है।

बेडनवाइलर,
२ जनवरी, १९३६

विषय-सूची

चित्र-सूची

मेरी कहानी

पण्डित मोतीलाल नेहरू

कश्मीरी घराना

"अपने बारे में खुद लिखना मुश्किल भी है और दिलचस्प भी, क्योंकि अपनी बुराई या निन्दा लिखना खुद हमें बुरा मालूम होता है, और अगर अपनी तारीफ़ करें, तो पाठकों को उसे सुनना नागवार मालूम होता है।"

—अब्राहम काउली

मा-बाप धनी-मानी और बेटा इकलौता हो, तो यों भी वह सिर पर चढ़ जाता है—फिर हिन्दुस्तान में तो और भी ज्यादा; और जब लड़का ऐसा हो जो ११ साल की उम्र तक अपने मा-बाप का अकेला ही बच्चा रहा हो, तो फिर दुलार की ख़राबी से उसके बचने की आशा और भी कम रह जाती है। मेरे दो बहनें हैं, जो उम्र में मुझसे बहुत ही छोटी हैं और हम हरेक के बीच में काफ़ी साल का फ़र्क है। इस तरह अपने बचपन में मैं बहुत-कुछ अकेला ही रहा। मुझे कोई हमउम्र साथी न मिला—यहाँतक कि मुझे स्कूल का भी कोई साथी नसीब न हुआ; क्योंकि मैं किसी किंडर-गार्टन या बच्चों के मदरसे में पढ़ने नहीं भेजा गया। मेरी पढ़ाई की ज़िम्मेदारी घरू मास्टरों या अध्यापिकाओं पर थी।

मगर हमारे घर में किसी तरह का अकेलापन न था। हमारा परिवार बहुत बड़ा था, जिसमें चचेरे भाई वग़ैरा और दूसरे पास के रिश्तेदार बहुत थे, जैसा कि हिन्दू-परिवारों में आम तौर पर हुआ करता है। मगर मुश्किल यह थी कि मेरे तमाम चचेरे भाई उम्र में मुझसे बहुत बड़े थे और वे सब हाई स्कूल या कॉलेज में पढ़ते थे। उनकी नज़र में मैं उनके कामों या खेलों में शरीक होने लायक़ नहीं हुआ था। इस तरह इतने बड़े परिवार में, मैं और भी अकेला लगता था और ज्यादातर अपने ही ख़यालों और खेलों में मुझे अकेले अपना वक़्त काटना पड़ता था।

हम लोग कश्मीरी हैं। २०० बरस से ज्यादा हुए होंगे, १८वीं सदी के शुरू में हमारे पुरखे दौलत और नामवरी पाने के इरादे से कश्मीर की

सुन्दर तराइयों से नीचे के उपजाऊ मैदानों में आये। वे मुग़ल सल्तनत की गिरावट के दिन थे। औरंगज़ेब मर चुका था और फ़र्रुखसियर वादशाह था। हमारे जो पुरखा सवसे पहले आये, उनका नाम था राजकौल। कश्मीर के संस्कृत और फ़ारसी के विद्वानों में उनका वड़ा नाम था। फ़र्रुखसियर जब कश्मीर गया, तो उसकी नज़र उनपर पड़ी। और शायद उसीके कहने से उनका परिवार दिल्ली आया, जो कि उस समय मुग़लों की राजधानी थी। यह सन् १७१६ के आसपास की वात है। राजकौल को एक मकान और कुछ जागीर दी गयी। मकान नहर के किनारे था, इसीसे उनका नाम नेहरू पड़ गया। कौल जो उनका ख़ानदानी लक़व था वह बदलकर कौल-नेहरू हो गया और, आगे चलकर, वह कौल ग़ायव होगया और हम महज़ नेहरू रह गये।

उसके वाद ऐसा डाँवाडोल ज़माना आया कि जिससे हमारे कुटुम्ब के जीवन में उतार-चढ़ाव आये, जिसमें वह जागीर भी तहस-नहस हो गयी। मेरे परदादा लक्ष्मीनारायण नेहरू, दिल्ली के वादशाह के नाममात्र के दरवार में कम्पनी-सरकार के पहले वकील हुए। मेरे दादा, गंगाधर नेहरू, १८५७ के ग़दर के कुछ पहले तक दिल्ली के कोतवाल थे। १८६१ में ३४ साल की भर-जवानी में ही वह मर गये थे।

१८५७ के ग़दर की वजह से हमारे परिवार का सव सिलसिला टूट गया। हमारे ख़ानदान के तमाम काग़ज़-पत्र और दस्तावेज़ तहस-नहस हो गये। इस तरह अपना सव-कुछ खो चुकने पर हमारा परिवार दिल्ली छोड़नेवाले और कई लोगों के साथ वहाँसे चल पड़ा और आगरे जाकर वस गया। उस समय मेरे पिताजी का जन्म नहीं हुआ था। लेकिन मेरे दो चाचा जवान थे और कुछ अंग्रेज़ी जानते थे। इस अंग्रेज़ी जानने की बदौलत मेरे छोटे चाचा और परिवार के कुछ दूसरे लोग एक वुरी और अचानक मौत से बच गये। हमारे परिवार के कुछ लोगों के साथ वह दिल्ली से कहीं जा रहे थे। उनके साथ उनकी एक छोटी बहन भी थी, जिसका रूप-रंग गोरा और बहुत अच्छा था, जैसा कि अक्सर कश्मीरी वच्चों का हुआ करता है। इत्तिफ़ाक़ से कुछ अंग्रेज़ सिपाही उन्हें रास्ते

पण्डित गंगाधर नेहरू
(जवाहरलालजी के दादा)

में मिले। उन्हें शक हुआ कि, हो-न-हो, यह लड़की किसी अंग्रेज़ की है और ये लोग इसे भगाये लिये जा रहे हैं। उन दिनों सरसरी तौर पर मुक़दमा करके सज़ा ठोक देना एक मामूली बात थी, इसलिए मेरे चाचा तथा परिवार के दूसरे लोग किसी नज़दीकी पेड़ पर ज़रूर फाँसी पर लटका दिये गये होते। मगर खुश-क़िस्मती से मेरे चाचा के अंग्रेज़ी-ज्ञान ने मदद की, जिससे इस फ़ैसले में कुछ देरी हुई। इतने ही में उधर से एक शख़्स गुज़रा, जो मेरे चचा वग़ैरा को जानता था, उसने उनकी और दूसरों की जान बचायी।

कुछ बरसों तक वे लोग आगरा रहे और वहीं ६ मई १८६१ को पिताजी का जन्म हुआ[१]। मगर वह पैदा हुए थे मेरे दादा के मरनें के तीन महीने बाद। मेरे दादा की एक छोटी तस्वीर हमारे यहाँ है जिसमें वह मुग़लों का दरबारी लिबास पहने और हाथ में एक टेढ़ी तलवार लिये हुए हैं। उसमें वह एक मुग़ल सरदार-जैसे लगते हैं, हालाँकि सूरत-शकल उनकी कश्मीरियों की-सी ही थी।

तब हमारे परिवार के भरण-पोषण की ज़िम्मेदारी मेरे दो चाचाओं पर आपड़ी, जो कि उम्र में मेरे पिता से काफ़ी बड़े थे। बड़े चाचा बंसीधर नेहरू, थोड़े ही दिन बाद ब्रिटिश सरकार के न्याय-विभाग में नौकर हो गये। जगह-जगह उनका तबादला होता रहा, जिससे वह परिवार के और लोगों से बहुत-कुछ जुदा पड़ गये। छोटे चाचा नन्दलाल नेहरू, राजपूताना की एक छोटी रियासत खेतड़ी के दीवान हुए और वहाँ दस बरस तक रहे। बाद में उन्होंने क़ानून का अध्ययन किया और आगरे में वकालत शुरू की। मेरे पिता भी उन्हींके साथ रहे और उन्हींकी छत्रछाया में उनका लालन-पालन हुआ। दोनों का आपस में बड़ा प्रेम था और उसमें बन्धु-प्रेम, पितृ-प्रेम और वात्सल्य का अनोखा मिश्रण था। मेरे पिता सबसे छोटे होनें के कारण स्वभावतः मेरी दादी के बहुत लाड़ले

---

१. एक अजीब और मज़ेदार दैवयोग है कि कवि-सम्राट् रवीन्द्रनाथ ठाकुर भी उसी दिन, उसी महीने और उसी साल पैदा हुए हैं।

थे। वह बूढ़ी थीं और बड़ी दबंग भी। किसीकी ताब नहीं थी कि उनकी बात को टाले। उनको मरे अब पचास वर्ष हो गये होंगे; मगर बूढ़ी कश्मीरी स्त्रियाँ अब भी उनको याद करती हैं और कहती हैं कि वह बड़ी ज़ोरदार औरत थीं। अगर किसीने उनकी मर्ज़ी के ख़िलाफ़ कोई काम किया तो बस मौत ही समझिए।

मेरे चाचा नये हाइकोर्ट में जाया करते थे और जब वह हाइकोर्ट इलाहाबाद चला गया तो हमारे परिवार के लोग भी वहीं जा बसे। तब-से इलाहाबाद ही हमारा घर बन गया है और वहीं, बहुत साल के बाद, मेरा जन्म हुआ। चाचाजी की वकालत धीरे-धीरे बढ़ती गयी और वह इलाहाबाद-हाइकोर्ट के बड़े वकीलों में गिने जाने लगे। इस बीच मेरे पिताजी कानपुर के स्कूल और इलाहाबाद के कॉलेज में शिक्षा पाते रहे। शुरू-शुरू में उन्होंने महज़ फ़ारसी और अरबी की तालीम पायी थी। उनकी अंग्रेज़ी शिक्षा बारह-तेरह वर्ष की उम्र के बाद शुरू हुई। मगर उस उम्र में भी वह फारसी के अच्छे जानकार समझे जाते थे और अरबी में भी कुछ दख़ल रखते थे। इसी कारण उनसे उम्र में बहुत बड़े लोग भी उनके साथ इज़्ज़त से पेश आते थे। छोटी उम्र में इतनी लियाक़त हो जाने पर स्कूल और कॉलेज में वह ज्यादातर हँसी-खेल और धूमा-मस्ती के लिए मशहूर थे। उन्हें संजीदा विद्यार्थी किसी तरह नहीं कह सकते थे। पढ़ने-लिखने की बनिस्बत खेल-कूद और शरारत का शौक़ बहुत था। कॉलेज में सरकश लड़कों के अगुआ समझे जाते थे। उनका झुकाव पश्चिमी लिबास की तरफ़ हो गया था, और सो भी उस वक़्त जब कि हिन्दुस्तान में कलकत्ता और बम्बई जैसे बड़े शहरों को छोड़कर इसका चलन नहीं हुआ था। वह तेज़-मिजाज और अक्खड़ थे, तो भी उनके अंग्रेज़ प्रोफ़ेसर उनको बहुत चाहते थे और अक्सर मुश्किलों से बचा लिया करते थे। वह उनकी स्पिरिट को पसन्द करते थे। उनकी बुद्धि तेज़ थी और कभी-कभी एकाएक जोर लगाकर वह क्लास में भी अपना काम ठीक चला लेते थे। अर्से बाद अक्सर वह अपने एक प्रोफ़ेसर का ज़िक्र प्रेम-भरे शब्दों में किया करते थे। यह थे मि० हैरिसन, जो

म्योर सेण्ट्रल कॉलेज इलाहाबाद के प्रिंसिपल थे। उनकी एक चिट्ठी भी उन्होंने बड़े जतन से सँभालकर रखी थी। यह उन दिनों की है, जबकि वह कॉलेज में पढ़ते थे।

कॉलेज की परीक्षाओं में वह पास होते चले गये। मगर कोई ख़ास नामवरी उन्होंने हासिल नहीं की। आख़िर को बी० ए० के इम्तिहान में बैठे। मगर उसके लिए उन्होंने कुछ मेहनत या तैयारी नहीं की थी और जो पहला पर्चा किया, तो उससे उन्हें बिलकुल सन्तोष नहीं हुआ। उन्होंने सोचा, जब पहला ही पर्चा बिगड़ गया है तो अब पास होने की क्या उम्मीद ? उन्होंने बाक़ी पर्चे किये ही नहीं और जाकर ताजमहल की सैर करने लगे। (उन दिनों विश्वविद्यालय की परीक्षायें आगरा में हुआ करती थीं)। मगर बाद को उनके प्रोफ़ेसर ने उन्हें बुलाया और बहुत बिगड़े। उनका कहना था कि पहला पर्चा तुमने ठीक-ठीक किया है और बेवकूफ़ी की जो आगे के पर्चे नहीं किये। ख़ैर, इस तरह पिताजी की कॉलेज-शिक्षा हमेशा के लिए खतम हो गयी और बी० ए० पास करना आख़िर रही गया।

अब उन्हें काम-धंधा जमाने की फ़िक्र हुई। सहज ही उनकी निगाह वकालत की ओर गयी, क्योंकि उस समय वही एक पेशा ऐसा था कि जिसमें बुद्धिमान और होशियार आदमियों के लिए काम की गुञ्जाइश थी और जिसकी चल जाती उसके पौ-बारह होते थे। अपने भाई की मिसाल उनके सामने थी ही। बस हाइकोर्ट-वकालत के इम्तिहान में बैठे और उनका नम्बर सबसे पहला रहा। उन्हें एक स्वर्ण-पदक भी मिला। क़ानून का विषय उन्हें दिल से पसन्द था और उसमें सफलता पाने का उन्होंने निश्चय कर लिया था।

उन्होंने कानपुर की ज़िला-अदालतों में वकालत शुरू की, और चूँकि वह सफलता पाने के लिए बहुत लालायित थे, इसलिए जी तोड़कर मेहनत की। फिर क्या था, उनकी वकालत अच्छी चमक उठी। मगर हाँ, हँसी-खेल और मौज-मज़ा उनका उसी तरह जारी रहा और अबतक भी उनका कुछ वक़्त उसमें चला जाता था। उन्हें कुश्ती और दंगल का

ख़ास शौक़ था। उन दिनों कानपुर कुश्तियों और दंगलों के लिए मशहूर था।

तीन साल तक कानपुर में उम्मीदवार के तौर पर काम करने के बाद पिताजी इलाहाबाद आये और हाइकोर्ट में काम करने लगे। इधर चाचा पण्डित नन्दलाल एकाएक गुजर गये। इससे पिताजी को जबरदस्त धक्का लगा। वह उनके लिए भाई ही नहीं, पिता के समान थे, और उन दोनों में बड़ा प्रेम था। उनके गुजर जाने से परिवार का मुखिया, जिसपर सारी आमदनी का दारोमदार था, उठ गया। परिवार की और पिताजी की यह बहुत बड़ी हानि थी। अब इतने बड़े कुनबे के भरण-पोषण का प्रायः सारा भार इस नौजवान के कन्धे पर आपड़ा।

वह अपने पेशे में जुट पड़े। सफलता पर तो तुले हुए थे ही। इसलिए कई महीनों तक दूसरी सब बातों से जी हटाकर इसीमें लगे रहे। चाचाजी के क़रीब-क़रीब सब मुक़दमे उन्हें मिल गये और उनमें अच्छी कामयाबी भी मिली। इससे अपने पेशे में भी उन्हें बहुत जल्दी कामयाबी मिलती चली गयी। मुक़दमे धड़ाधड़ आने लगे और रुपया खूब मिलने लगा। छोटी उम्र में ही उन्होंने वकालती सफलता में नामवरी हासिल कर ली; परन्तु उसकी कीमत उन्हें यह देनी पड़ी कि वकालत-देवी के ही मानों वह अधीन हो गये। उनके पास न सार्वजनिक और न घरू कामों के लिए वक़्त रहता था—यहाँतक कि छुट्टियों के दिन भी वह वकालत के काम में ही लगाते थे। कांग्रेस उन दिनों मध्यम श्रेणी के अंग्रेजी पढ़े लोगों का ध्यान अपनी तरफ़ खीचने में लगी थी। वह उसकी शुरू की कुछ बैठकों में गये भी थे और, जहाँतक विचारों से सम्बन्ध है, वह कांग्रेसवादी रहे। उसके कामों में वह कोई ख़ास दिलचस्पी नहीं लेते थे। अपने पेशे में ही इतने डूबे रहते थे कि उसके लिए उन्हें वक़्त नहीं था। हाँ, एक बात और थी। इसके सिवा, उन्हें यह निश्चय न था कि राजनैतिक और सार्वजनिक कार्यों का क्षेत्र उनके लिए उपयुक्त होगा या नहीं। उस समय तक इन विषयों पर उन्होंने न तो ज्यादा ध्यान ही दिया था, न कुछ उन्हें इसकी अधिक जानकारी ही थी। वह ऐसे किसी आन्दोलन

और संगठन में शामिल होना नहीं चाहते थे, जिसमें उन्हें किसी दूसरे के इशारे पर नाचना पड़ता हो। यों बचपन और जवानी के शुरू की तेज़ी देखने में कम हो गयी थी : पर दरअसल उसने नया रूप ले लिया था। वकालत की ओर उसे लगा देने से उन्हें कामयाबी मिली, जिससे उनका गर्व और अपने पर भरोसा रखने का भाव बढ़ गया। पर फिर भी विचित्रता यह थी कि एक ओर वह लड़ाई लड़ना, दिक्क़तों का मुक़ाबिला करना पसन्द करते थे और दूसरी ओर उन दिनों राजनैतिक क्षेत्र से अपने को बचाये रखते थे। और उन दिनों तो कांग्रेस में लड़ाई का मौक़ा भी बहुत कम था। बात दरअसल यह थी कि उस क्षेत्र से उनका परिचय नहीं था और उनका दिमाग़ अपने पेशे की बातों में और उसके लिए कड़ी मेहनत करने में लगा रहता था। उन्होंने सफलता की सीढ़ी पर अपना पैर मज़बूती से जमा लिया था और एक-एक क़दम ऊपर चढ़ते जाते थे और यह किसीकी मेहरबानी से नहीं, और न किसी की ख़िदमत करके ही, बल्कि ख़ुद अपने दृढ़ संकल्प और बुद्धि के बल पर।

साधारण अर्थ में वह ज़रूर ही राष्ट्रवादी थे। मगर वह अंग्रेज़ों और उनके तौर-तरीक़ के क़द्रदाँ भी थे। उनका यह ख़याल बन गया था कि हमारे देशवासी ही नीचे गिर गये हैं और वे जिस हालत में हैं, बहुत-कुछ उसीके लायक़ हैं। जो राजनैतिक लोग बातें-ही-बातें किया करते हैं, करते-धरते कुछ नहीं, उनसे वह मन-ही-मन कुछ नफ़रत-सी करते थे, हालाँकि वह यह नहीं जानते थे कि इससे ज्यादा वे और कर ही क्या सकते थे ? हाँ, एक और ख़याल भी उनके दिमाग़ में था, जो कि उनकी कामयाबी के नशे से पैदा हुआ था। वह यह कि जो राजनीति में पड़े हैं, उनमें ज्यादातर—सब नहीं—वे लोग हैं, जो अपने जीवन में नाकामयाब हो चुके हैं।

पिताजी की आमदनी दिन-दिन बढ़ती जाती थी, जिससे हमारे रहन-सहन में बहुत परिवर्तन हो गया था। जहाँ आमदनी बढ़ी नहीं कि ख़र्च भी उसके साथ बढ़ा नहीं। रुपया जमा करना मेरे पिताजी को ऐसा मालूम पड़ता था मानों जब और जितना चाहें रुपया कमाने की अपनी

शक्ति पर तोहमत लगाना है। खिलाड़ी की स्पिरिट और हर तरह से बढ़ी-चढ़ी रहन-सहन के शौक़ीन तो वह थे ही, जो-कुछ कमाते थे, सब खर्च कर देते थे। नतीजा यह हुआ कि हमारी चाल-ढाल धीरे-धीरे पश्चिमी साँचे में ढलती गयी।

मेरे बचपन[1] में हमारे घर का यह हाल था।

---

1. १४ नवम्बर १८८९, मार्गशीर्ष बदी सप्तमी, संवत् १९४६ को इलाहाबाद में मेरा जन्म हुआ था।

: २ :

बचपन

मेरा बचपन इस तरह बुजुर्गों की छत्रछाया में बीता। उसमें कोई महत्त्व की घटना नहीं हुई। मैं अपने चचेरे भाइयों की बातें सुनता, मगर हमेशा सबकी सब मेरी समझ में आजाती हों सो बात नहीं। अक्सर ये बातें अंग्रेज़ और यूरेशियन लोगों के ऐंठू स्वभाव और हिन्दुस्तानियों के साथ अपमानजनक व्यवहारों के बारे में हुआ करती थीं और इस बात पर भी चर्चा हुआ करती कि प्रत्येक हिन्दुस्तानी का फ़र्ज़ होना चाहिए कि वह इस हालत का मुक़ाबिला करे और इसे हरगिज़ बर्दाश्त न करे। हाकिमों और लोगों में टक्करें होती रहती थीं और उनके समाचार आये दिन सुनायी पड़ते थे। उनपर भी खूब चर्चा होती थी। यह एक आम बात थी कि जब कोई अंग्रेज़ किसी हिन्दुस्तानी को क़त्ल कर देता, तो अंग्रेज़ों के जूरी उसको बरी कर देते। यह बात सबको खटकती थी। रेलगाड़ियों में यूरोपियनों के लिए डिब्बे रिज़र्व रहते थे और गाड़ी में चाहे कितनी ही भीड़ हो——और ज़बरदस्त भीड़ रहा ही करती थी——कोई हिन्दुस्तानी उनमें सफर नहीं कर सकता था, भले ही वे ख़ाली पड़े रहें। जो डिब्बे रिज़र्व नहीं होते थे, उनपर भी अंग्रेज़ लोग अपना क़ब्ज़ा जमा लेते थे और किसी हिन्दुस्तानी को नहीं घुसने देते थे। सार्वजनिक बग़ीचों और दूसरी जगहों में भी बेन्चें और कुर्सियाँ रिज़र्व रखी जाती थीं। विदेशी हाक़िमों के इस बर्ताव को देखकर मुझे बड़ा रंज होता और जब कभी कोई हिन्दुस्तानी उलटकर वार कर देता, तो मुझे बड़ी ख़ुशी होती। कभी-कभी मेरे चचेरे भाइयों में से कोई या उनके कोई दोस्त ख़ुद भी ऐसे झगड़ों में उलझ जाते, तब हम लोगों में बड़ा जोश फैल जाता। हमारे परिवार में मेरे चचेरे भाई बड़े दबंग थे। उन्हें अक्सर अंग्रेज़ों से और ज्यादातर यूरेशियनों से झगड़ा मोल लेने का बड़ा शौक़ था। यूरेशियन तो अपने को शासकों की जाति का बताने के लिए

अंग्रेज़ अफ़सरों और व्यापारियों से भी ज्यादा बुरी तरह पेश आते थे। ऐसे झगड़े ख़ासकर रेल के सफ़र में हुआ करते थे।

हालाँकि देश में विदेशी शासकों का रहना और उनका रंग-ढंग मुझे नागवार मालूम होने लगा था, तो भी, जहाँतक मुझे याद है, किसी अंग्रेज़ के लिए मेरे दिल में बुरा भाव नहीं था। मेरी अध्यापिकायें अंग्रेज़ थीं और कभी-कभी मैं देखता था कि कुछ अंग्रेज़ भी पिताजी से मिलने के लिए आया करते थे। बल्कि यों कहना चाहिए कि अपने दिल में तो मैं अंग्रेज़ों की इज्ज़त ही करता था।

शाम को रोज़ कई मित्र पिताजी से मिलने आया करते थे। पिताजी आराम से पड़ जाते और उनके बीच दिन भर की थकान मिटाते। उनकी ज़बरदस्त हँसी से सारा घर भर जाता था। इलाहाबाद में उनकी हँसी एक मशहूर बात हो गयी थी। कभी-कभी मैं परदे की ओट से उनकी और उनके दोस्तों की ओर झाँकता और यह जानने की कोशिश करता कि देखें ये बड़े लोग इकट्ठे होकर आपस में क्या-क्या बातें करते हैं? मगर जब कभी ऐसा करते हुए मैं पकड़ा जाता, तो खींचकर बाहर लाया जाता और सहमा हुआ कुछ देर तक पिताजी की गोदी में बैठाया जाता। एक बार मैंनें उन्हें 'क्लेरेट' या कोई दूसरी लाल शराब पीते हुए देखा। 'व्हिस्की' को मैं जानता था। अक्सर पिताजी और उनके मित्रों को पीते देखा था। मगर इस नयी लाल चीज़ को देखकर मैं सहम गया और माँ के पास दौड़ा गया और कहा कि "माँ, माँ, देखो तो, पिताजी खून पी रहे हैं!"

मैं पिताजी की बहुत इज्ज़त करता था। मैं उन्हें बल, साहस और होशियारी की मूर्त्ति समझता था और दूसरों के मुक़ाबिले में इन बातों में बहुत ही ऊँचा और बढ़ा-चढ़ा पाता था। मैं अपने दिल में मनसूबे बाँधा करता था कि बड़ा होने पर पिताजी की तरह होऊँगा। पर जहाँ मैं उनकी इज्ज़त करता था और उन्हें बहुत ही चाहता था, वहाँ मैं उनसे डरता भी बहुत था। नौकर-चाकरों पर और दूसरों पर बिगड़ते हुए मैंनें उन्हें देखा था। उस समय वह बड़े भयंकर मालूम होते थे और मैं मारे

डर के काँपने लगता था। नौकरों के साथ उनका जो यह वर्ताव होता था, उससे मेरे मन में उनपर कभी-कभी गुस्सा आ जाया करता। उनका स्वभाव दरअसल भयंकर था, और उनकी आयु के ढलते दिनों में भी उनका-सा गुस्सा मुझे किसी दूसरे में देखने को नहीं मिला। लेकिन खुशक़िस्मती से उनमें हँसी-मज़ाक का माद्दा भी बड़े ज़ोर का था और वह इरादे के बड़े पक्के थे। इससे आम तौर पर अपने-आपको ज़ब्त रख सकते थे। ज्यों-ज्यों उनकी उम्र बढ़ती गयी उनकी संयम-शक्ति बढ़ती गयी; और फिर शायद ही कभी वह ऐसा भीषण स्वरूप धारण करते।

उनकी तेज़-मिजाजी की एक घटना मुझे याद है। बचपन ही में मैं उसका शिकार हो गया था। कोई ५-६ वर्ष की मेरी उम्र रही होगी। एक रोज़ मैंने पिताजी की मेज़ पर दो फ़ाउन्टेन पेन पड़े देखे। मेरा जी ललचाया। मैंने दिल में कहा--पिताजी एक साथ दो पेनों का क्या करेंगें? एक मैंने अपनी जेब में डाल लिया। बाद में बड़े ज़ोरों की तलाश हुई, कि पेन कहाँ चला गया? तब तो मैं घबराया। मगर मैंनें बताया नहीं। पेन मिल गया और मैं गुनहगार क़रार दिया गया। पिताजी बहुत नाराज़ हुये और मेरी जी भर के मरम्मत की। आखिर पिटकर शर्म से अपना-सा मुहँ लिये मैं माँ की गोद में दौड़ा गया। पिटा इतना था कि कई दिन तक बदन पर क्रीम और मरहम लगाने पड़े थे।

लेकिन मुझे याद नहीं पड़ता कि इस सज़ा के कारण पिताजी को मैंने कोसा हो। मैं समझता हूँ, मेरे दिल ने यही कहा होगा कि सज़ा तो तुझे वाजिब ही मिली है, मगर थी ज़रूरत से ज्यादा। लेकिन पिताजी के लिए मेरे दिल में वैसी ही इज्ज़त और मुहब्बत बनी रही—हाँ, अब एक डर और उसमें शामिल हो गया था। मगर माँ के बारे में ऐसा न था। उसमें मैं बिलकुल नहीं डरता था, क्योंकि मैं जानता था कि वह मेरे सब किये-धरे को माफ़ कर देगी और उसके इस ज्यादा और बेहद प्रेम के कारण मैं उसपर थोड़ा-बहुत हावी होने की भी कोशिश करता था। पिताजी की बनिस्बत मैं माँ को ज्यादा पहचान सका था और वह मुझे पिताजी से अपने ज्यादा नज़दीक मालूम होती थीं। मैं जितने भरोसे के

साथ माताजी से अपनी बात कह सकता था, उतने भरोसे के साथ पिताजी से कहने का स्वप्न में भी खयाल नहीं कर सकता था। वह सुडौल, क़द में छोटी और नाटी थीं और मैं जल्द ही क़रीब-क़रीब उनके बराबर ऊँचा हो गया था और अपने को उनके बराबर समझने लगा था। वह बहुत सुन्दर थीं। उनका सुन्दर चेहरा और छोटे-छोटे ख़ूबसूरत हाथ-पाँव मुझे बहुत भाते थे। मेरी माँ के पूर्वज कोई दो पुश्त पहले ही कश्मीर से नीचे मैदान में आये थे।

एक और शख़्स जो लड़कपन में मेरे भरोसे के आदमी थे, वह पिताजी के मुंशी मुबारक अली थे। वह बदायूँ के रहनेवाले थे और उनके घर के लोग ख़ुशहाल थे। मगर १८५७ के ग़दर ने उनके कुनबे को बरबाद कर दिया और अंग्रेज़ी फ़ौज ने उसको एक हद तक जड़-मूल से उखाड़ फेंका था। इस मुसीबत ने उन्हें हरेक के प्रति, और ख़ासकर बच्चों के प्रति, बहुत नम्र और सहनशील बना दिया था, और मेरे लिए तो वह, जब कभी मैं किसी बात से दुःखी होता या तकलीफ़ महसूस करता तो सान्त्वना के निश्चित आधार थे। उनके बढ़िया सफ़ेद दाढ़ी थी और मेरी नौजवान आँखों को वह बहुत पुराने और प्राचीन जानकारी के ख़ज़ाने मालूम होते थे। मैं उनके पास लेटे-लेटे घण्टों अलिफ़-लैला की और दूसरी क़िस्से-कहानियाँ या १८५७ और १८५८ की ग़दर की बातें सुना करता। बहुत दिन बाद, मेरे बड़े होने पर, मुंशीजी इन्त-क़ाल कर गये। उनकी प्यारी सुखद स्मृति अब भी मेरे मन में बसी हुई है।

हिन्दू पुराणों और रामायण-महाभारत की कथायें भी मैं सुना करता था, जोकि मेरी माँ और चाचियाँ सुनाया करती थीं। मेरी एक चाची, पण्डित नन्दलालजी की विधवा पत्नी, पुरानें हिन्दू-ग्रन्थों की बहुत जान-कारी रखती थीं। उनके पास इन कहानियों का तो मानों ख़ज़ाना ही भरा था। इस कारण हिन्दू पौराणिक बातों और दन्तकथाओं की मुझे काफ़ी जानकारी हो गयी थी।

धर्म के मामले में मेरे ख़यालात बहुत धुँधले थे। मुझे वह स्त्रियों से सम्बन्ध रखनेवाला विषय मालूम होता था। पिताजी और बड़े चचेरे

भाई धर्म की बात को हँसी में उड़ा दिया करते थे और इसको कोई महत्त्व नहीं देते थे। हाँ, हमारे घर की औरतें अलबत्ता पूजा-पाठ और व्रत-त्यौहार किया करती थीं। हालाँकि मैं इस मामले में घर के बड़े-बूढ़े आदमियों की देखादेखी उनकी अवहेलना किया करता था, फिर भी कहना होगा कि मुझे उनमें एक लुत्फ़ आता था। कभी-कभी मैं अपनी माँ या चाची के साथ गंगा नहाने जाया करता, और कभी इलाहाबाद या काशी या दूसरी जगह मन्दिरों में भी या किसी नामी और बड़े साधु-संन्यासी के दर्शन के लिए भी जाया करता। मगर इन सबका बहुत कम असर मेरे दिल पर हुआ।

फिर त्यौहार के दिन आते थे—होली, जबकि सारे शहर में रंग-रेलियों की धूम मच जाती थी और हम लोग एक दूसरे पर रंग की पिचकारियाँ चलाते थे; दिवाली रोशनी का त्यौहार होता, जबकि सब घरों पर धीमी रोशनीवाले मिट्टी के हज़ारों दीये जलाये जाते; जन्माष्टमी जिसमें कि जेल में जन्मे श्रीकृष्ण की आधीरात को वर्षगाँठ मनायी जाती (लेकिन उस समय तक जागते रहना हमारे लिए बड़ा मुश्किल होता था); दशहरा और रामलीला, जिसमें कि स्वाँग और जुलूसों के द्वारा रामचन्द्र और लंका-विजय की पुरानी कहानी की नक़ल की जाती थी और जिन्हें देखने के लिए लोगों की बड़ी भारी भीड़ इकट्ठी होती थी। सब बच्चे मुहर्रम का जुलूस भी देखने जाते थे, जिसमें रेशमी अलम होते थे और सुदूर अरब में हसन और हुसैन के साथ हुई घटनाओं की यादगार में शोकपूर्ण मरसिये गाये जाते थे। दोनों ईद पर मुंशीजी बढ़िया कपड़े पहन कर बड़ी मसजिद में नमाज़ के लिए जाते और मैं उनके घर जाकर मीठी सेवैंया और दूसरी बढ़िया चीजें खाया करता। इनके सिवा रक्षा-बन्धन, भैया-दूज वग़ैरा छोटे त्यौहार भी हम लोग मानते थे।

कश्मीरियों के कुछ ख़ास त्यौहार भी होते हैं, जिन्हें उत्तर में बहुतेरे दूसरे हिन्दू नहीं मानते। इनमें सबसे बड़ा नौरोज़ याने वर्ष-प्रतिपदा का त्योहार है। इस दिन हमलोग नये कपड़े पहनकर बन-ठनकर निकलते और घर के बड़े लड़के-लड़कियों को हाथ-ख़र्च के तौरपर कुछ पैसे मिला करते थे।

मगर इन तमाम उत्सवों में मुझे एक सालाना जलसे में ज़्यादा दिलचस्पी रहती, जिसका खास मुझी से ताल्लुक़ था—याने मेरी वर्ष-गाँठ का उत्सव। इस दिन मैं बड़े उत्साह और रंग में रहता था। सुबह ही एक बड़ी तराज़ू में मैं गेहूँ और दूसरी चीज़ों के थैलों से तौला जाता और फिर वे चीज़ें ग़रीबों को बाँट दी जातीं और बाद को नये-नये कपड़ों से सजा-धजाकर मुझे भेंट और तोहफ़े नज़र किये जाते। फिर शाम को दावत दी जाती। उस दिन का मानो मैं राजा ही हो जाता मगर मुझे इस बात का बड़ा दुःख होता था कि वर्ष-गाँठ साल में एक बार ही क्यों आती है? वास्तव में मैंने इस बात का आन्दोलन खड़ा करने की कोशिश की कि वर्ष-गाँठ के मौक़े बरस में एक बार ही क्यों और अधिक क्यों न आया करें? उस वक़्त मुझे क्या पता था कि एक समय ऐसा भी आयगा जब ये वर्षगाँठें हमको अपने बुढ़ापे के आने की दुःखदायी याद दिलाया करेंगी।

कभी-कभी हम सब घर के लोग अपने किसी भाई या किसी रिश्ते-दार या किसी दोस्त की शादी में बरात भी जाया करते। उस सफ़र में बड़ी धूम रहती। शादी के उत्सव में हम बच्चों की तमाम पाबन्दियाँ ढीली हो जाती थीं और हम आज़ादी से आ-जा सकते थे। शादीख़ाने में कई कुटुम्बों के लोग आकर रहते थे और उनमें बहुतेरे लड़के और लड़-कियाँ भी होती थीं। ऐसे मौक़ों पर मुझे अकेलेपन की शिकायत नहीं रहती थी और जी भरकर खेलने-कूदने और शरारत करने का मौक़ा मिल जाता था। हाँ, कभी-कभी बड़े-बूढ़ों की डाँट-फटकार भी जरूर पड़ जाती थी।

हिन्दुस्तान में क्या ग़रीब और क्या अमीर सब जिस तरह शादियों में धूम-धाम और फ़िज़ूल-ख़र्ची करते हैं उनकी सब तरह बुराई ही की जाती है और वह ठीक भी है। फ़िज़ूल-ख़र्ची के अलावा उसमें बड़े भद्दे ढंग के प्रदर्शन भी होते हैं, जिनमें न कोई सुन्दरता होती है, न कला। (कहना नहीं होगा कि इसमें अपवाद भी होते हैं) इन सबके असली गुनहगार हैं मध्यम वर्ग के लोग। ग़रीब भी क़र्ज लेकर फ़िज़ूल-ख़र्ची

करते हैं। मगर यह कहना बिलकुल बेमानी है कि उनकी दरिद्रता उनकी इन सामाजिक कुप्रथाओं के कारण है। अक्सर यह भुला दिया जाता है कि ग़रीब लोगों की जिन्दगी बड़ी उदास, नीरस और एक ढर्रे की होती है। जब कभी कोई शादी का जलसा होता है, तो उसमें उन्हें अच्छा खाने-पीने और गाने-बजाने का कुछ मौक़ा मिल जाता है, जोकि उनकी मेहनत-मशक्क़त के रेगिस्तान में झरने का काम देता है। रोज़मर्रा के जी उबा देनेवाले काम-काज और जीवन-क्रम से हटकर कुछ आराम और आनन्द-छटा दीख जाती है, और जिनको हँसने-खेलने के इतने कम मौक़े मिलते हैं उनको कौन ऐसा निष्ठुर बेपीर होगा जो इतना भी आनन्द, आराम और तसल्ली न मिलने देना चाहेगा ? हाँ, फ़िज़ूल-ख़र्ची को आप शौक़ से बन्द कर दीजिए और उनकी शाहख़र्ची भी—कैसे बड़े और बेमानी लफ्ज़ हैं ये जो उस थोड़े-से प्रदर्शन के लिए इस्तैमाल किये जाते हैं, जिसे ग़रीब लोग अपनी ग़रीबी में भी दिखाते हैं—कम कर दीजिए, लेकिन मेहरबानी करके उनके जीवन को ज़्यादा उदास और हँसी-ख़ुशी से खाली मत बनाइए।

यही बात मध्यम श्रेणी के लोगों के लिए भी है। फ़िज़ूल-ख़र्ची को छोड़ दें, तो ये शादियाँ एक तरह के सामाजिक सम्मेलन ही हैं, जहाँकि दूर के रिश्तेदार और पुराने साथी व दोस्त बहुत दिनों के बाद मिल जाते हैं। हमारा देश बड़ा लम्बा-चौड़ा है; यहाँ अपने संगी-साथियों व दोस्तों से मिलना आसान नहीं है। सबका साथ और एक जगह मिलना तो और भी मुश्किल है। इसलिए यहाँ शादी के जलसों को लोग इतना चाहते हैं। एक और चीज़ इसके मुक़ाबिले की है और कुछ बातों में तो, और सामाजिक सम्मेलन की दृष्टि से भी, वह उससे आगे निकल गयी है। वह है राजनैतिक सम्मेलन, अर्थात् प्रान्तीय परिषदें, या कांग्रेस की बैठकें।

और लोगों की बनिस्बत, खासकर उत्तर भारत में, कश्मीरियों को एक ख़ास सुभीता है। उनमें परदे का रिवाज़, स्त्री-पुरुषों को एक दूसरे से न मिलने-जुलने का रिवाज़, कभी नहीं रहा है। मैदान में आने पर, वहाँके रिवाज के मुताबिक, दूसरों से और ग़ैर-कश्मीरियों से जहाँ तक

ताल्लुक़ है, उन्होंने उस रिवाज को एक हद तक अपना लिया है। उत्तर में जहाँ कि कश्मीरी अधिक बसते हैं, उन दिनों यह सामाजिक उच्चता का एक चिन्ह समझा जाता रहा था। मगर अपने आपस में उन्होंने स्त्री और पुरुष के सामाजिक जीवन को वैसा ही आज़ाद रखा है। कोई भी कश्मीरी किसी भी कश्मीरी के घर में आज़ादी से आ-जा सकता है। कश्मीरियों की दावतों और उत्सवों में स्त्री-पुरुष आपस में एक-दूसरे के साथ मिलते-जुलते और बैठते हैं। हाँ, अक्सर स्त्रियाँ अपना एक झुण्ड बनाकर बैठती हैं, लड़के-लड़कियाँ बहुत-कुछ बराबर की हैसियत से मिलते-जुलते हैं। लेकिन हाँ, यह तो कहना ही पड़ेगा कि आधुनिक पश्चिम की तरह की आज़ादी उन्हें नहीं थी।

इस तरह मेरा बचपन गुजरा। कभी-कभी, जैसा कि बड़े कुटुम्बों में हुआ ही करता है, हमारे कुटुम्ब में भी झगड़े हो जाया करते थे। जब वे बढ़ जाते तो पिताजी के कानों तक पहुँचते। तब वह नाराज़ होते और कहते कि ये सब औरतों की बेवक़ूफी के नतीजे हैं। मैं यह तो नहीं समझ पाता था कि दरअसल क्या घटना हुई है, मगर मैं इतना ज़रूर समझता था कि कई बुरी बात हुई है; क्योंकि लोग एक-दूसरे से बिगड़ कर बदमजगी से बोलते थे और आपस में रूठे रहते थे। ऐसी हालत में मैं बड़ा दु:खी हो जाता। पिताजी जब कभी बीच में पड़ते, तो हम लोगों के देवता कूच कर जाते थे।

उन दिनों की एक छोटी-सी घटना मुझे अभी तक याद है। मैं ६-७ वर्ष का रहा होऊँगा। मैं रोज़ घुड़-सवारी के लिए जाया करता था। मेरे साथ घुड़-सेना का एक सवार रहता था। एक रोज़ शाम को मैं घोड़े से गिर पड़ा और मेरा टट्टू--जो अरबी नसल का एक अच्छा जानवर था--ख़ाली घर लौट आया। पिताजी टेनिस खेल रहे थे। काफ़ी घबराहट और हलचल मच गयी और वहाँ जितने लोग थे सब-के-सब जो भी सवारी मिली उसे लेकर, मेरी तलाश में दौड़ पड़े। पिताजी उन सबके अगुआ बने हुए थे। वह रास्ते में मुझे मिले और मेरा इस तरह स्वागत किया मानो मैंने कोई बड़ी बहादुरी का काम किया हो।

: ३ :

थियोसॉफ़ी

जबकि मैं दस साल का था, हम लोग एक नये और काफ़ी बड़े मकान में आ गये, जिसका नाम पिताजी ने 'आनन्द-भवन' रखा था। इस मकान में एक बड़ा बाग़ था और एक तैरने का बड़ा-सा हौज़। वहाँ ज्यों-ज्यों नयी-नयी चीज़ें दिखायी पड़तीं, त्यों-त्यों मेरी तबीयत लहरा उठती। इमारत में नये-नये हिस्से जोड़े जा रहे थे और बहुतेरा खुदाई और चुनाई का काम हो रहा था। वहाँ मज़दूरों को काम करते हुए देखना मुझे अच्छा लगता था।

मैं कह चुका हूँ कि मकान में तैरने के लिए एक बड़ा हौज़ था। मैं तैरना जान गया और पानी में गिरते मुझे ज़रा भी डर मालूम नहीं होता था। गर्मी के दिनों में कई बार मौक़ा-बे-मौक़ा मैं उसमें नहाया करता। शाम को पिताजी के कई दोस्त तैरने आया करते थे। वह एक नयी चीज़ थी और वहाँ तथा मकान में बिजली की बत्तियाँ लगायी गयी थीं। इलाहाबाद में उन दिनों ये नयी बातें थीं। इन नहानेवालों के झुण्ड में मुझे बड़ा आनन्द रहता था और उनमें जो तैरना नहीं जानते थे उनमें से किसीको आगे धक्का देकर या पीछे खींचकर डराने में बड़ा ही लुत्फ़ आता था। मुझे डाक्टर तेजबहादुर सप्रू का क़िस्सा याद आता है, जबकि उन्होंने इलाहाबाद-हाइकोर्ट में नयी-नयी वक़ालत शुरू की थी। वह तैरना नहीं जानते थे और न जानना ही चाहते थे। वह पन्द्रह इन्च पानी में पहली सीढ़ी पर ही बैठ जाते थे और क़सम खाने को एक सीढ़ी नीचे नहीं उतरते थे, और अगर कोई उन्हें आगे खींचने की कोशिश करता तो ज़ोर से चिल्ला उठते थे। मेरे पिताजी खुद भी तैराक नहीं थे, मगर वह किसी तरह हाथ-पैर फटफटाकर और जी कड़ा करके हौज़ के आर-पार चले जाते थे।

उन दिनों बोअर-युद्ध हो रहा था। उसमें मेरी दिलचस्पी होने

लगी। बोअरों की तरफ़ मेरी हमदर्दी थी। इस लड़ाई की ख़बरों को पढ़ने के लिए मैं अख़बार पढ़ने लगा।

इसी समय एक घरेलू बात में मेरा चित्त रम गया। वह थी मेरी एक छोटी बहन का जन्म। मेरे दिल में एक अर्से से एक रंज छिपा रहता था और वह यह कि मेरे कोई भाई या बहन नहीं है जबकि और कइयों के हैं। जब मुझे यह मालूम हुआ कि मेरे भाई या बहन होनेवाली है, तो मेरी खुशी का पार न रहा। पिताजी उन दिनों यूरप में थे। मुझे याद है कि मैं उस वक़्त बरामदे में बैठा-बैठा कितनी उत्सुकता से इस बात की राह देख रहा था। इतने में एक डॉक्टर ने आकर मुझे बहन होने की ख़बर दी और कहा—शायद मज़ाक में—कि तुमको खुश होना चाहिए कि भाई नहीं हुआ, जो तुम्हारी जायदाद में हिस्सा बँटा लेता। यह बात मुझे बहुत चुभी और मुझे ग़ुस्सा भी आगया—इस ख़याल पर कि कोई मुझे ऐसा कमीना ख़याल रखनेवाला समझे।

पिताजी की यूरप-यात्रा ने कश्मीरी ब्राह्मणों में अन्दर-ही-अन्दर एक तूफ़ान खड़ा कर दिया। यूरप से लौटने पर उन्होंने किसी क़िस्म का प्रायश्चित्त करने से इन्कार कर दिया। कुछ साल पहले एक दूसरे कश्मीरी पण्डित बिशननारायण दर, जो बाद में कांग्रेस के सभापति हुए थे, इंग्लैण्ड गये थे और वहाँसे बैरिस्टर होकर आये थे। लौटने पर बेचारों ने प्रायश्चित भी कर लिया, तो भी पुराने ख़याल के लोगों ने उनको जाति से बाहर कर दिया और उनसे किसी क़िस्म का ताल्लुक़ नहीं रखा। इससे बिरादरी में क़रीब-क़रीब बराबर के दो टुकड़े हो हो गये थे। बाद को कई कश्मीरी युवक विलायत पढ़ने गये और लौटकर सुधारक-दल में मिल गये—लेकिन उन सबको प्रायश्चित करना पड़ता था। यह प्रायश्चित-विधि क्या, एक तमाशा होता था, जिसमें किसी तरह की धार्मिकता नहीं थी। उसके मानी सिर्फ़ रस्म अदा करना या एक गिरोह की बात को मान लेना होता था। और दिल्लगी यह कि एक दफ़ा प्रायश्चित्त कर लेनें के बाद ये सब लोग हर तरह के नवीन सुधारों के कामों में शरीक होते—यहाँ तक कि अब्रह्मण और अहिन्दू-

के यहाँ भी आते-जाते और खाना खाते थे।

पिताजी एक क़दम और आगे वढ़े और उन्होंने किसी रस्म या नाम-मात्र के लिए भी किसी प्रकार का प्रायश्चित्त करने से इन्कार कर दिया। इससे वड़ा तहलका मच गया, खासकर पिताजी की तेजी और अक्खड़-पन के कारण। आखिरकार कितनें ही कश्मीरी पिताजी के साथ हो गये और एक तीसरा दल वन गया। थोड़े ही साल के अन्दर जैसे-जैसे ख़यालात वदलते गये और पुरानी पावन्दियाँ हटती गयीं, ये सब दल एक में मिल गये। कई कश्मीरी लड़के और लड़कियाँ इंग्लैण्ड और अमेरिका पढ़ने गये और उनके लौटने पर प्रायश्चित्त का कोई सवाल पैदा नहीं हुआ। खान-पान का परहेज़ क़रीव-क़रीब सव उठ गया। मुट्ठीभर पुराने लोगों को, खासकर वड़ी-बूढ़ी स्त्रियों को छोड़कर, ग़ैर कश्मीरियों, मुसलमानों तथा ग़ैर-हिन्दुस्तानियों के साथ वैठकर खाना खाना एक मामूली वात हो गयी। दूसरी जातिवालों के साथ स्त्रियों का परदा उठ गया और उनके मिलने-जुलने की रुकावट भी हट गयी। १९३० के राजनैतिक आन्दोलन ने इसको एक जोर का आखिरी धक्का दिया। दूसरी विरादरीवालों के साथ शादी-व्याह करने का रिवाज भी अभी वहुत वढ़ा नहीं है—हालाँकि दिन-दिन वढ़ती पर है। मेरी दोनों वहनों ने ग़ैर-कश्मीरियों के साथ शादी की और हमारे कुटुम्व का एक युवक हाल ही एक हँगेरियन लड़की व्याह लाया है। अन्तर्जातीय विवाह पर ऐतराज धार्मिक दृष्टि से नहीं, वल्कि ज़्यादातर वंश-शुद्धि की दृष्टि से किया जाता है। कश्मीरियों में यह अभिलापा पायी पाती है कि वे अपनी जाति की एकता को और आर्यत्व के संस्कारों को क़ायम रखें। उन्हें डर है कि यदि वे हिन्दुस्तानी और ग़ैर-हिन्दुस्तानी समाज के समुद्र में कूदेंगे, तो इन दोनों वातों को खो देंगे। इस विशाल देश में हम कश्मीरियों की संख्या सागर में वूंद के वरावर है।

सवसे पहले कश्मीरी व्राह्मण जिन्होंने आधुनिक समय में, कोई सौ वरस पहले, पश्चिमी देशों की यात्रा की, वह थे मिर्ज़ा मोहनलाल 'कश्मीरी'। (वह अपनें को ऐसा ही कहा करते थे) वह वड़े ख़ूवसूरत और

बुद्धिमान् थे। दिल्ली के मिशन कॉलेज में पढ़ते थे। एक ब्रिटिश मिशन काबुल गया तो उसके साथ फ़ारसी के दुभाषिया बनकर वह गये। बाद को तमाम मध्य-एशिया और ईरान की उन्होंने सैर की। और जहाँ कहीं गये उन्होंने अपनी एक-एक शादी की, मगर आम तौर पर ऊँचे दर्जे के लोगों के यहाँ। वह मुसलमान हो गये थे और ईरान में शाही घराने की एक लड़की से शादी कर ली थी, इसीलिए उनको मिर्ज़ा की उपाधि मिली थी। वह यूरप भी गये थे और तत्कालीन युवती महारानी विक्टोरिया से भी मिले थे। उन्होंने अपनी यात्रा के बड़े रोचक वर्णन और सुन्दर संस्मरण लिखे हैं।

जब मैं कुल ग्यारह वर्ष का था तो मेरे लिए एक नये शिक्षक आये, जिनका नाम था एफ० टी० ब्रुक्स। वह मेरे साथ ही रहते थे। उनके पिता आयरिश थे और मा फ़रासीसी या बेलजियन थीं। वह एक पक्के थियोसॉफ़िस्ट थे और मिसेज़ बेसेण्ट की सिफारिश से आये थे। कोई तीन साल तक वह मेरे साथ रहे। कई बातों में मुझपर उनका गहरा असर पड़ा। उस समय मेरे एक और शिक्षक थे—एक बूढ़े पण्डितजी जो मुझे हिन्दी और संस्कृत पढ़ाने के लिए रखे गये थे। कई वर्षों की मेहनत के बाद भी पण्डितजी मुझे बहुत कम पढ़ा पाये थे—इतना थोड़ा कि मैं अपने नाम-मात्र के संस्कृत-ज्ञान की तुलना अपने लैटिन-ज्ञान के साथ ही कर सकता हूँ, जोकि मैंने हॅरो में पढ़ी थी। कुसूर तो इसमें मेरा ही था। भाषायें पढ़ने में मेरी गति अच्छी नहीं थी और व्याकरण में तो मेरी रुचि बिलकुल ही न थी।

एफ़० टी० ब्रुक्स की सोहबत से मुझे किताबें पढ़ने का चाव लगा, और मैंने कई अंग्रेज़ी किताबें पढ़ डालीं—अलबत्ता बिना किसी उद्देश के। बच्चों और लड़कों सम्बन्धी अच्छा साहित्य मैंने देख लिया था। लुई केरोल[1] और किप्लिग[2] की पुस्तकें मुझे बहुत पसंद थीं। डॉन

---

१. अतिशय कल्पनोत्तेजक बाल-साहित्य-लेखक। २. हिन्दुस्तान में पैदा हुआ और भारतीय जीवन के विषय में अनेक काल्पनिक कथायें लिखने-

निक्कजोट्[1] की पुस्तक में गुस्ताव दोरे के चित्र मुझे बहुत लुभाते हुए और फ़िजॉफ़ नान्सन की 'फारदेस्ट नॉर्थ'[2] ने तो मेरे लिए और साहस की एक नयी दुनिया का दरवाज़ा खोल दिया। स्कॉट,[3] डिकेन्स[4] और थैकरे[5] के कई उपन्यास मुझे पढ़े याद हैं। एच० जी० वेल्स[6] की साहस-कथायें, मार्क ट्वेन[7] की विनोद-कथायें और शार्लाक-होम्स[8] की जासूसी-कहानियाँ भी पढ़ी हैं। 'प्रिज़नर्स ऑफ ज़ेन्दा'[9] ने मेरे दिमाग़ में घर ही कर लिया था। और जेरोम के० जेरोम की 'थ्री मैन इन ए बोट'[10] से बढ़कर हास्य-रस की पुस्तक मैंने नहीं पढ़ी। दूसरी कितावें भी मुझे याद हैं। वे हैं डू मॉरियर[11] की 'ट्रिलबी' और 'पीटर इबटसन'। काव्य-साहित्य के प्रति भी मेरी रुचि बढ़ी थी, जोकि

वाला एक साम्राज्य-भक्त अंग्रेज लेखक। इंग्लैण्ड और साम्राज्य विषयक इसकी अंधभक्ति तो पाठक को खटकती है, लेकिन लेखनशैली पर वह मुग्ध हो जाता है। १. यह एक स्पेनिश उपन्यास है जिसमें थोडी शक्ति पर हवाई क़िले बाँधनेवाले पात्र का अनुपम चित्र खींचा गया है। २. पेरी के उत्तरी ध्रुव तक पहुँचने के पहले उत्तर में बड़ी दूर-दूर तक जानेवाला नार्वियन यात्री। इस पुस्तक में इसने अपनी यात्रा का वर्णन किया है। वह नार्वे में अध्यापक था। इसने पीड़ितों के लिए बहुत काम किया और जब रूस में भयानक अकाल पड़ा था तब इसने भारी सेवा की थी। इसे शान्ति-स्थापना के लिए नोबल प्राइज मिला है। थोड़े ही दिन पहले इसकी मृत्यु हुई है। ३-४-५. प्रसिद्ध अंग्रेज उपन्यासकार। ६. प्रसिद्ध आधुनिक विज्ञान-कथा लेखक और सुधारक। ७. अमेरिकन हास्य-रसज्ञ लेखक। ८. कॉनन डायल नामक अंग्रेज लेखक का प्रसिद्ध जासूस पात्र। ९. एण्टनी होप का प्रसिद्ध उपन्यास। १०. काल्पनिक यात्रा-वर्णन-विषयक पुस्तक जिसे पढ़कर हँसते-हँसते लोट-पोट हो जाते हैं। इस अंग्रेज लेखक का सारा साहित्य इसी प्रकार का है। ११. पिछली सदी के एक अंग्रेज लेखक (जिसके पिता फ्रांसीसी और माता अंग्रेज थीं)। इसकी पुस्तकें बालकों की कल्पना को उत्तेजित

कई परिवर्त्तनों के हो चुकने के बाद अब भी मुझमें कुछ हद तक क़ायम है।

ब्रुक्स ने विज्ञान के रहस्यों से भी मेरा परिचय कराया। हमने एक विज्ञान की प्रयोगशाला खड़ी कर ली थी और मैं घण्टों प्रारम्भिक वस्तु-विज्ञान और रसायन-शास्त्र के प्रयोग किया करता था, जो बड़े दिलचस्प मालूम होते थे।

पुस्तकें पढ़ने के अलावा ब्रुक्स साहब ने एक और बात का असर मुझपर डाला, जो कुछ समय तक बड़े ज़ोर के साथ रहा। वह थी थियोसॉफ़ी। हर हफ्ते उनके कमरे में थियोसॉफ़िस्टों की सभा हुआ करती। मैं भी उसमें जाया करता और धीरे-धीरे थियोसॉफी की भाषा और विचार-शैली मुझे हृदयंगम होने लगी। वहाँ आध्यात्मिक विषयों पर तथा 'अवतार', 'काम-शरीर' और दूसरे 'अलौकिक शरीरों' और दिव्य पुरुषों के आसपास दिखायी देनेवाले 'तेजोवलय' तथा 'कर्म-तत्त्व' इन विषयों पर चर्चा होती और मैडम ब्लेवेट्स्की तथा दूसरे थियोसॉफ़िस्टों से लेकर हिन्दू धर्म-ग्रन्थों, बुद्ध-धर्म के 'धम्मपद', पायथागोरस[१], तयाना के अपोलोनियस[२] और कई दार्शनिकों और ऋषियों के ग्रन्थों का ज़िक्र आया करता था। वह सब कुछ मेरी समझ में तो नहीं आता था, परन्तु वह मुझे बहुत रहस्यपूर्ण और लुभावना मालूम होता था, और मैं मानने लगा था कि सारे विश्व के रहस्यों की कुंजी यही है।

करती हैं। 'पीटर इबटसन' में अपने बच्चे का सुन्दर वर्णन है और बड़ी आकर्षक भाषा में उपन्यास के पात्रों के मुख से जीवन का मर्म समझाया गया है। १. ईसापूर्व छठी सदी में यह यूनानी तत्त्ववेत्ता हुआ था। इसे सांख्यवादी कह सकते हैं। यह पुनर्जन्म और कर्म के सिद्धान्त को मानता था। इसकी दृष्टि में पशुओं के आत्मा थी और इसलिए यह तथा इसके अनुयायी मांसाहार से नफ़रत करते थे। २. एक यूनानी तत्त्ववेत्ता जो ईसा के पहले हो गया है। कहते हैं यह हिन्दुस्तान में आया था। यह वेदान्ती था। —अनु०

यहीं से ज़िन्दगी में सबसे पहले मैं अपनी तरफ़ से धर्म और परलोक के बारे में गम्भीरता से सोचने लगा था। हिन्दू-धर्म, ख़ासकर, मेरी नज़र में ऊँचा उठ गया था; उसके क्रिया-काण्ड और व्रत-उत्सव नहीं—बल्कि उसके महान् ग्रन्थ, उपनिषद् और भगवद्गीता। मैं उन्हें समझ तो नहीं पाता था, परन्तु वे मुझे बहुत विलक्षण ज़रूर मालूम होते थे। मुझे 'काम-शरीरों' के सपने आते और मैं बड़ी-बड़ी दूर तक आकाश में उड़ता जाता। बिना किसी विमान के यों ही ऊँचे आकाश में उड़ते जाने के सपने मुझे जीवन में अक्सर आया करते हैं। कभी-कभी तो वे बहुत सच्चे और साफ़ मालूम होते हैं और नीचे को सारा विशाल विश्व-पटल एक चित्रपट सा मुझे दिखायी पड़ता। मैं नहीं जानता कि फ्रॉयड[1] तथा दूसरे आधुनिक स्वप्न-शास्त्री इस सपने का क्या अर्थ लगाते होंगे।

उन दिनों मिसेज़ बेसेण्ट इलाहाबाद आयी हुई थीं, और उन्होंने थियोसॉफ़ी-सम्बन्धी कई विषयों पर भाषण दिये थे। उनके सुन्दर भाषणों से मेरा दिल हिल उठता था और मैं चकाचौंध होकर घर आता और अपने आपको भूल जाता था, जैसे कि किसी सपने में हूँ। मैं उस समय तेरह साल का था, तो भी मैंने थियोसॉफ़िकल सोसायटी का मेम्बर बनना तय कर लिया। जब मैं पिताजी से इजाज़त लेने गया, तो उन्होंने उसे हँसकर उड़ा दिया। वह इस मामले को इधर या उधर कोई महत्त्व देना नहीं चाहते थे। उनकी इस उदासीनता पर मुझे दुःख हुआ। यों तो वह मेरी निगाह में बहुत बातों में बड़े थे। फिर भी मुझे लगा कि उनमें आध्यात्मिकता की कमी है। यों सच पूछिए तो वह बहुत पुराने थियोसॉफ़िस्ट थे। वह तबसे थियोसॉफ़िकल सोसायटी में शरीक हुए जब मैडम ब्लेवेट्स्की हिन्दुस्तान में थीं। धार्मिकविश्वास से नहीं, बल्कि कुतूहल के कारण ही शायद वह मेम्बर बने थे। मगर शीघ्र ही वह उसमें से हट गये। हाँ, उनके कुछ मित्र, जो उनके साथ सोसाइटी में शरीक

---

१. इस युग का प्रसिद्ध जर्मन मानसशास्त्रवेत्ता। —अनु०

हुए थे, क़ायम रहे, और सोसायटी के उच्च आध्यात्मिक पदों पर ऊँचे चढ़ते गये।

इस तरह मैं तेरह वर्ष की उम्र में थियोसॉफ़िकल सोसायटी का मेम्बर बना, और ख़ुद मिसेज़ बेसेण्ट ने मुझे प्रारम्भिक दीक्षा दी, जिसमें कुछ उपदेश दिया, और कुछ गूढ़ चिन्हों से परिचित कराया—जो कि शायद फ्री मेसनरी ढंग के थे। उस समय मैं हर्ष से पुलकित हो उठा था। मैं थियोसॉफ़िकल कन्वेन्शन में बनारस गया था और कर्नल अलकॉट को देखा था, जिनकी दाढ़ी बड़ी भव्य थी।

तीस बरस पहले अपने बचपन में कोई कैसा लगता होगा, और कैसा क्या अनुभव करता होगा इसका ख़याल करना बहुत मुश्किल है। मगर मुझे यह अच्छी तरह ख़याल पड़ता है कि अपने थियोसॉफ़ी के इन दिनों में मेरा चेहरा गम्भीर, नीरस और उदास दिखायी पड़ता था, जो कि कभी-कभी पवित्रता का सूचक होता है, और जैसा कि थियोसॉफ़िस्ट स्त्री-पुरुषों का अक्सर दिखायी पड़ता है। मैं अपने मन में समझता था कि मैं औरों से ऊँची सतह पर हूँ, और अवश्य ही मेरा रंग-ढंग ऐसा था कि जिससे मुझे अपने हम-उम्र लड़के या लड़की अपनी संगत के लायक़ न समझते होंगे।

ब्रुक्स साहब के मुझसे अलहदा होते ही थियोसॉफ़ी से भी मेरा सम्पर्क छूट गया, और बहुत थोड़े ही अरसे में थियोसॉफ़ी मेरी ज़िन्दगी से बिलकुल हट गयी। इसकी कुछ वजह तो यह थी कि मैं इंग्लैण्ड पढ़ने चला गया था। मगर इसमें कोई शक नहीं कि ब्रुक्स साहब की संगति का मुझपर गहरा असर हुआ है और मैं उनका और थियोसॉफ़ी का बहुत ऋणी हूँ। लेकिन मुझे कहते दुःख होता है कि थियोसॉफ़िस्ट तबसे मेरी निगाह में कुछ नीचे उतर गये हैं। वे ख़तरे की बनिस्बत आराम ज्यादा पसन्द करते हैं। इसलिए ऊँचे एवं बढ़े-चढ़े होने के बजाय मामूली आदमी से दिखायी देते हैं। शहीदों के रास्ते जाने की बनिस्बत फूलों पर चलना पसन्द करते हैं। लेकिन हाँ, मिसेज़ बेसेण्ट के लिए मेरे दिल में जीता-जागता आदर रहा है।

जिस दूसरी मार्के की घटना ने मेरे जीवन पर उस समय असर डाला वह थी रूस-जापान की लड़ाई। जापानियों की विजय से मेरा दिल उत्साह से उछलने लगता और रोज़ मैं अखबारों में ताज़ी खबरें पढ़ने को उतावला रहता। मैंने जापान-सम्बन्धी कई किताबें मँगायीं और उनमें से थोड़ी-बहुत पढ़ीं भी। जापान के इतिहास में तो मानों मैं अपने को गँवा बैठा था, लेकिन पुराने जापान के सरदारों की कहानियाँ चाव से पढ़ता और लाफ्केडियो हर्न[1] का गद्य मुझे रुचिकर लगता था।

मेरा दिल राष्ट्रीय भावों से भरा रहता था। मैं यूरप के पंजे से एशिया और हिन्दुस्तान को आज़ाद करने के भावों में डूबा रहता। मैं बड़े-बड़े बहादुरी के मनसूबे बाँधा करता था, कि कैसे हाथ में तलवार लेकर मैं हिन्दुस्तान को आज़ाद करने के लिए लड़ूंगा।

मैं चौदह साल का था। हमारे घर में रद्दोबदल हो रहे थे। मेरे बड़े चचेरे भाई अपने-अपने काम-धन्धों में लग गये थे और अलहदा रहने लगे थे। मेरे मन में नये-नये विचार और गोल-मोल कल्पनायें मँड़राया करती थीं,। और स्त्री जाति में मेरी कुछ दिलचस्पी बढ़ने लगी थी, लेकिन अब भी मैं लड़कियों की बनिस्बत लड़कों के साथ मिलना ज्यादा पसन्द करता था, और लड़कियों के साथ मिलना-जुलना अपनी शान के खिलाफ़ समझता था। लेकिन कभी-कभी कश्मीरी दावतों में—जहाँ सुन्दर लड़कियों का अभाव नहीं रहता था—या दूसरी जगह उनपर कहीं निगाह पड़ गयी या बदन छू गया तो मेरे रोंगटे खड़े हो जाते थे।

मई १९०५ को जब मैं पंद्रह साल का था, हम इंग्लैण्ड रवाना हुए। पिताजी, माँ, मेरी छोटी बहन और मैं, चारों एकसाथ गये।

---

१. जापानी लेखक जिसने जापान-जीवन के अनुपम चित्र चित्रित किये हैं। अनु०

: ४ :

हॅरो और केम्ब्रिज

मई के आखिर में हम लोग लन्दन पहुँचे। डोवर से ट्रेन में जाते हुए रास्ते में सुशीमा में जापानी जल-सेना की भारी विजय का समाचार पढ़ा। मेरी खुशी का ठिकाना न रहा। दूसरे ही दिन डर्बी की घुड़दौड़ थी। हम लोग उसे देखने गये। मुझे याद है कि लन्दन में आने के कुछ दिनों बाद ही डाक्टर अन्सारी से मेरी भेंट हुई। उन दिनों वह एक चुस्त और होशियार नौजवान थे। उन्होंने वहाँके विद्यालयों में भारी सफलता प्राप्त की थी। उन दिनों वह लन्दन के अस्पताल में हाउस-सर्जन थे।

हॅरो में दाखिल होने की दृष्टि से मेरी उम्र कुछ बड़ी थी, क्योंकि मैं उन दिनों पंद्रह बरस का था। इसलिए यह मेरी खुशक़िस्मती ही थी कि मुझे वहाँ जगह मिल गयी। मेरे परिवार के लोग पहले तो यूरप के दूसरे देशों की यात्रा को चले गये और फिर वहां से कुछ महीनों बाद हिन्दुस्तान लौट गये।

इससे पहले मैं अजनबी आदमियों में बिलकुल अकेला कभी नहीं रहा था। इसलिए मुझे बड़ा ही सूना-सूना मालूम पड़ता और घर की याद सताती थी। लेकिन यह हालत ज्यादा दिनों तक नहीं रही। कुछ हद तक मैं स्कूल की ज़िन्दगी में हिल-मिल गया और काम तथा खेलकूद में लगा रहने लगा, लेकिन मेरा पूरा मेल कभी नहीं बैठा। हमेशा मेरे दिल में यह ख़याल बना रहता कि मैं इन लोगों में से नहीं हूँ और दूसरे लोग भी मेरी बाबत यही ख़याल करते होंगे। कुछ हद तक मैं सबसे अलग अकेला ही रहा। लेकिन कुल मिलाकर मैं खेलों में पूरा-पूरा हिस्सा लेता था। खेलों में मैं चमका-चमकाया तो कभी नहीं, लेकिन मेरा विश्वास है कि लोग यह मानते थे कि मैं खेल से पीछे हटने-वाला भी न था।

शुरू में तो मुझे नीचे दर्जे में भर्ती किया गया, क्योंकि मुझे लैटिन कम आती थी, लेकिन फ़ौरन ही मुझे तरक्क़ी मिल गयी। सम्भवतः कई बातों में, और ख़ासकर आम बातों की जानकारी में, मैं अपनी उम्र के लोगों से आगे था। इसमें शक नहीं कि मेरी दिलचस्पी के विषय बहुतेरे थे और मैं अपने ज़्यादातर सहपाठियों से ज़्यादा किताबें और अख़बार पढ़ता था। मुझे याद है कि मैंने पिताजी को लिखा था कि अंग्रेज़ लड़के बड़े मट्ठे होते हैं; क्योंकि वे खेलों के सिवा और किसी विषय पर बात ही नहीं कर सकते। लेकिन मुझे इसमें अपवाद भी मिले थे, ख़ास तौर पर ऊपर के दर्जों में।

इंग्लैण्ड के आम चुनाव में मुझे बहुत दिलचस्पी थी। जहाँतक मुझे याद है, यह चुनाव १९०५ के अख़ीर में हुआ और उसमें लिबरलों की बड़ी भारी जीत हुई थी। १९०६ के शुरू में हमारे दर्जे के मास्टर ने हमसे सरकार की बाबत कई सवाल पूछे, और मुझे यह देखकर बड़ा अचरज हुआ कि उस दर्जे में मैं ही एक ऐसा लड़का था जो उस विषय पर बहुत-सी बातें बता सका—यहाँतक कि कैम्पबैल-बैनरमैन के मंत्रि-मण्डल के सदस्यों की क़रीब-क़रीब पूरी फ़ेहरिस्त मैंने बता दी।

राजनीति के अलावा जिस दूसरे विषय में मुझे बहुत दिलचस्पी थी वह था हवाई जहाज़ों की शुरूआत। वह ज़माना राइट ब्रदर्स और सन्तोस डुमों का था। इनके बाद ही फ़ौरन फारमन लैथम और ब्लीरियो आये। जोश में आकर मैंने हॅरो से पिताजी को लिखा था कि मैं हर हफ़्ते के अख़ीर में हवाई-जहाज़ द्वारा उड़कर आपसे हिन्दुस्तान में मिल सकूँगा।

इन दिनों हॅरो में चार या पाँच हिन्दुस्तानी लड़के थे। दूसरी जगह रहनेवालों से मिलने का तो मुझे बहुत ही कम मौक़ा मिलता था, लेकिन हमारे अपने ही घर में—हेडमास्टर के यहाँ—महाराजा बड़ौदा के एक पुत्र हमारे साथ थे। वह मुझसे बहुत आगे थे और क्रिकेट के अच्छे खिलाड़ी होने की वजह से लोकप्रिय थे। मेरे जाने के बाद फ़ौरन ही वह वहाँसे चले गये। बाद में महाराजा कपूरथला के बड़े लड़के

परमजीतसिंह आये, जो आजकल टीकासाहब हैं। वहाँ उनका मेल बिलकुल नहीं मिला। वह दुखी रहते थे और दूसरे लड़कों से मिलते-जुलते नहीं थे। लड़के अक्सर उनका तथा उनके तौर-तरीक़ों का मज़ाक उड़ाते थे। इससे वह बहुत चिढ़ते थे, और कभी-कभी उनको धमकी देते कि जब कभी तुम कपूरथला आओगे, तब तुम्हें देख लूँगा। यह कहना बेकार है, कि इस घुड़की का कोई अच्छा असर नहीं होता था। इससे पहले वह कुछ समय तक फ़्रांस में रह चुके थे और फ़्रान्सीसी भाषा में धारा-प्रवाह बोल सकते थे। लेकिन ताज्जुब की बात तो यह थी कि अंग्रेज़ी स्कूलों में विदेशी भाषाओं के सिखाने के तरीक़े कुछ ऐसे थे, कि फ़्रान्सीसी भाषा के दर्जे में उनका यह ज्ञान उनके कुछ काम नहीं आता था।

एक दिन एक अजीब घटना हुई। आधी रात को हाउस-मास्टर साहब एकाएक हमारे कमरों में घुस-घुसकर तलाशी लेने लगे। पीछे हमें मालूम हुआ कि परमजीतसिंह की सोने की मूँठ की ख़ूबसूरत स्टिक् खो गयी है। तलाशी में वह नहीं मिली। इसके दो या तीन दिन बाद लार्ड्‌स-मैदान में ईटन और हॅरो का मैच हुआ और उसके बाद फ़ौरन ही वह स्टिक् उनके मकान में रखी मिली। जाहिर है, कि किसी साहब ने मैच में उससे काम लिया और उसके बाद उसे लौटा दिया।

हमारे छात्रावास तथा दूसरे छात्रावासों में थोड़े-से यहूदी भी थे। यों वे मज़े में बिला ख़रख़शा रहते थे, लेकिन तह में उनके ख़िलाफ़ यह ख़याल ज़रूर काम करता था कि ये लोग 'बदमाश यहूदी' हैं और कुछ दिन बाद ही, लगभग अनजान में, मैं भी यही सोचने लगा कि इनसे नफ़रत करना ठीक ही है। लेकिन दरअसल मेरे दिल यहूदियों के ख़िलाफ़ कभी कोई भाव न था, और अपने जीवन में आगे जाकर तो यहूदियों में मुझे कई अच्छे दोस्त मिले।

धीरे-धीरे मैं हॅरो का आदी हो गया और मुझे वहाँ अच्छा लगने लगा। लेकिन न जाने कैसे मैं यह महसूस करने लगा कि अब यहाँ मेरा काम नहीं चल सकता। विश्वविद्यालय मुझे अपनी तरफ़ खींच रहा था।

हॅरो और केम्ब्रिज

१९०६ और १९०७ भर हिन्दुस्तान से जो खबरें आती थीं उनसे मैं बहुत बेचैन रहता था। अंग्रेज़ी अखबारों में बहुत ही कम खबरें मिलती थीं, लेकिन जितनी मिलती थीं उनसे ही यह मालूम हो जाता था कि देश में, बंगाल, पंजाब और महाराष्ट्र में बड़ी-बड़ी बातें हो रही हैं। लाला लाजपतराय और सरदार अजीतसिंह को देश-निकाला दिया गया था। बंगाल में हाहाकार-सा मचा हुआ मालूम पड़ता था। पूना से तिलक का नाम बिजली की तरह चमकता था और स्वदेशी तथा बहिष्कार की आवाज़ गूँज रही थी। इन बातों का मुझपर भारी असर पड़ा। लेकिन हॅरो में एक भी शख़्स ऐसा न था जिससे मैं इस बारे की बातें कर सकता। छुट्टियों में मैं अपने कुछ चचेरे भाइयों तथा दूसरे हिन्दुस्तानी दोस्तों से मिला और मुझे अपने जी को हल्का करने का मौक़ा मिला।

स्कूल में अच्छा काम करने के लिए मुझे जी० एम० ट्रैवेलियन की गैरीबाल्डी-नामक एक पुस्तक इनाम में मिली थी। इस पुस्तक में मेरा मन ऐसा लगा कि मैंने फ़ौरन ही इस माला की बाक़ी दो किताबें भी खरीद लीं और उनमें गैरीबाल्डी की पूरी कहानी बड़ी सावधानी के साथ पढ़ी। हिन्दुस्तान में भी इसी तरह की घटनाओं की कल्पना मेरे मन में उठने लगी। मैं आज़ादी की बहादुराना लड़ाई के सपने देखने लगा और मेरे मन में इटली और हिन्दुस्तान अजीब तरह से मिल-जुल गये। इन ख़यालों के लिए हॅरो कुछ छोटी और तंग जगह मालूम होने लगी, और मैं विश्वविद्यालय के ज्यादा बड़े क्षेत्र में जाने की इच्छा करने लगा। इसीलिए मैंने पिताजी को इस बात के लिए राजी कर लिया और मैं हॅरो में सिर्फ़ दो बरस रहकर वहाँसे चला गया। यह दो बरस का समय वहांके निश्चित साधारण समय से बहुत कम था।

यद्यपि मैं हॅरो से ख़ुद अपनी मरजी से जाना चाहता था, फिर भी मुझे यह अच्छी तरह याद है कि जब अलग होने का समय आया, तब मुझे बड़ा दुःख हुआ, और मेरी आँखों में आँसू आगये। मुझे वह जगह अच्छी लगने लगी थी और वहां से सदा के लिए अलग होने से मेरे जीवन

का एक अध्याय समाप्त हो गया। परन्तु फिर भी मुझे कभी-कभी यह ख़याल आजाता है कि हॅरो छोड़ने पर मेरे मन में असली दुःख कितना था? क्या कुछ हदतक यह वात न थी कि मैं इसलिए दुःखी था कि हॅरो की परम्परा और उसके गीत की ध्वनि के अनुसार मुझे दुःखी होना चाहिए था? मैं भी इन परम्पराओं के प्रभाव से अपने को वचा नहीं सकता था, क्योंकि वहाँके वातावरण में घुल-मिल जाने के ख़याल से मैंने उस प्रथा का विरोध कभी नहीं किया था।

१९०७ के अक्तूवर के शुरू में केम्ब्रिज के ट्रिनिटी कॉलेज में पहुँच गया। उस वक्त मेरी उम्र सतरह वर्ष की या अठारह वरस के नजदीक थी। मुझे इस वात से वेहद ख़ुशी हुई कि अव मैं अण्डर-ग्रेजुएट हूँ, स्कूल के मुक़ाविले में यहाँ मुझे जो चाहूँ सो करने की काफ़ी आज़ादी मिलेगी। मैं लड़कपन के वन्धन से मुक्त हो गया और यह महसूस करने लगा कि आख़िर मैं भी अव वड़ा होने का दावा कर सकता हूँ। मैं ऐंठ के साथ केम्ब्रिज के विशाल भवनों और उसकी तंग गलियों में चक्कर काटा करता और यदि कोई जान-पहचानवाला मिल जाता तो वहुत खुश होता।

केम्ब्रिज में मैं तीन साल रहा। ये तीनों साल शांतिपूर्वक वीते, इनमें किसी प्रकार के विघ्न नहीं पड़े। तीनों साल धीरे-धीरे, धीमी-धीमी वहनेवाली कैम नदी की तरह चले। ये साल वड़े आनन्द के थे। इनमें वहुत-से मित्र मिले, कुछ काम किया, कुछ खेले और मानसिक क्षितिज धीरे-धीरे वढ़ता रहा। मैंने प्राकृतिक विज्ञान का कोर्स लिया था। मेरे विषय थे रसायन-शास्त्र, भूगर्भ-शास्त्र और वनस्पति-शास्त्र। परन्तु मेरी दिलचस्पी इन्हीं विषयों तक महदूद न थी। केम्ब्रिज में या छुट्टियों में लंदन में अथवा दूसरी जगहों में मुझे जो लोग मिले, उनमें से वहुत-से विद्वत्तापूर्ण ग्रन्थों के वारे में, साहित्य और इतिहास के वारे में, राजनीति और अर्थशास्त्र के वारे में वातचीत करते थे। पहले-पहल तो ये वढ़ी-चढ़ी वातें मुझे वड़ी मुश्किल मालूम हुई, परन्तु जव मैंने कुछ किताबें पढ़ीं, तव सव वातें समझने लगा, जिससे मैं कम-से-कम अन्त तक वात करते हुए भी इन साधारण विषयों में से किसीके वारे में अपना घोर

अज्ञान ज़ाहिर नहीं होने देता था। हम लोग नीत्शे[1] और बर्नार्ड शॉ[2] की भूमिकाओं तथा लॉज़ डिकिन्सन[3] की नयी-से-नयी पुस्तकों के बारे में बहस किया करते थे। उन दिनों केम्ब्रिज में नीत्शे की धूम थी। हम लोग अपनेको बड़ा अक्लमन्द समझते थे और स्त्री-पुरुष-सम्बन्ध तथा सदाचार आदि विषयों पर बड़े अधिकारी-रूप से, शान के साथ बातें करते थे और बातचीत के सिलसिले में ब्लॉक, हैवलॉक एलिस, एबिंग और वीनिगर के नाम लेते जाते थे। हम लोग यह महसूस करते थे कि इन विषयों के सिद्धांतों के बारे में हम जितना जानते हैं, विशेषज्ञों को छोड़कर और किसीको उससे ज्यादा जानने की ज़रूरत नहीं है।

वास्तव में, हम बातें ज़रूर बढ़-बढ़कर मारते थे, लेकिन स्त्री-पुरुष-सम्बन्ध के बारे में हममें से ज्यादातर डरपोक थे और कम-से-कम मैं तो ज़रूर डरपोक था। मेरा इस विषय का ज्ञान, केम्ब्रिज छोड़ने के बाद भी, बहुत बरसों तक केवल सिद्धान्त तक ही सीमित रहा। ऐसा क्यों हुआ, यह कहना कुछ कठिन है। हममें से अधिकांश का स्त्रियों की ओर जोर का आकर्षण था, और मुझे इस बात में सन्देह है कि हममें से कोई उनके सहवास में किसी प्रकार का पाप समझता था। यह निश्चित है कि मैं उसमें कोई पाप नहीं समझता था, मेरे मन में कोई धार्मिक रुकावट नहीं थी। हम लोग आपस में कहा करते थे---स्त्री-पुरुषों के सम्बन्धों का न सदाचार से सम्बन्ध है न दुराचार से, वह तो इन आचारों से परे है। यह सब होने पर भी एक प्रकार की झिझक तथा इस सम्बन्ध में आमतौर पर जिन तरीक़ों से काम लिया जाता था उनके प्रति मेरी अरुचि ने मुझे इससे बचा रखा। उन दिनों मैं निश्चित रूप से एक झेंपू लड़का था, शायद यह इसलिए हो कि मैं बचपन में अकेला रहा था।

---

१. आधुनिक जर्मन तत्त्ववेत्ता---प्रचलित नीति और धर्म मान्यताओं का शत्रु। २. आधुनिक प्रसिद्ध अंग्रेज नाट्यकार। ३. केम्ब्रिज विश्व-विद्यालय के एक प्रसिद्ध अध्यापक। ---अनु०

उन दिनों जीवन के प्रति मेरा आम रुख़ एक अस्पष्ट प्रकार के भोग-वाद का था, जो कुछ अंश तक युवावस्था में स्वाभाविक था और कुछ अंश तक ऑस्कर वाइल्ड[1] और वाल्टर पेटर[2] के प्रभाव के कारण था। आनन्दानुभव और आराम की ज़िन्दगी विताने की ख़्वाहिश को भोग-वाद जैसा बड़ा नाम देना है तो आसान और तबीयत को ख़ुश करनेवाली वात, लेकिन मेरे मामले में इसके अलावा कुछ और वात भी थी; क्योंकि मैं ख़ास तौर पर आराम की ज़िन्दगी की तरफ़ रुजू न था। मेरी प्रकृति धार्मिक नहीं थी और धर्म के दमनकारी वन्धनों को मैं पसंद भी नहीं करता था, इसलिए मेरे लिए यह स्वाभाविक था कि मैं किसी दूसरे स्टैण्डर्ड की खोज करता। उन दिनों मैं सतह पर ही रहना पसंद करता था, किसी मामले की गहराई तक नहीं जाता था, इसलिए जीवन का सौन्दर्य-मय पहलू मुझे अपील करता था। मैं चाहता था कि मैं सुयोग्यता के साथ जीवन-यापन करूँ। गँवारू ढंग से उसका उपभोग तो मैं नहीं करना चाहता था, लेकिन मेरा रुझान जीवन का सर्वोत्तम उपभोग करने और उसका पूर्ण तथा विविध आनन्द लेने की ओर था। मैं जीवन का उपभोग करता था और इस वात से इन्कार करता था कि मैं उसमें पाप की कोई वात क्यों समझूँ? साथ ही ख़तरे और साहस के काम भी मुझे अपनी ओर आकर्षित करते थे। पिताजी की तरह मैं भी हर वक़्त कुछ हद तक जुआरी था। पहले रुपये का जुआरी, और फिर वड़ी-वड़ी वाज़ियों का—जीवन के वड़े-वड़े आदर्शों का। १९०७ तथा १९०८ में हिन्दुस्तान की राजनीति में उथल-पुथल मची हुई थी और मैं उसमें वीरता के साथ भाग लेना चाहता था। ऐसी दशा में मैं आराम की ज़िन्दगी तो वसर कर ही नहीं सकता था। ये सव वातें मिलकर, और कभी-कभी परस्पर-विरोधी इच्छायें, मेरे मन में अजीव खिचड़ी पकातीं, भँवर-सी पैदा कर देतीं। उन दिनों ये सव वातें अस्पष्ट तथा गोल-मोल थीं। परन्तु इससे उन दिनों मैं परेशान न था, क्योंकि

१–२. नीति-मुक्त कला के हामी आधुनिक अंग्रेज लेखक। —अनु०

इनका फैसला करने का समय तो अभी बहुत दूर था। तबतक जीवन––शारीरिक और मानसिक दोनों प्रकार का––आनन्दमय था। हमेशा नित-नये क्षितिज दिखायी पड़ते थे। इतने काम करने थे, इतनी चीजें देखनी थीं इतने नये क्षेत्रों की खोज करनी थी! जाड़े की लम्बी रातों में हम लोग अँगीठी के सहारे बैठ जाते और धीरे-धीरे इतमीनान के साथ रात में आपस में बातें तथा विचार-विनिमय करते; उस समय तक, जबतक अँगीठी की आग बुझकर हमें जाड़े से कँपाकर बिछौने पर न भेज देती थी। कभी-कभी वाद-विवाद में हमारी आवाज मामूली न रहकर तेज़ हो जाती और हम लोग बहस की गरमा-गरमी से जोश में आ जाते थे। लेकिन यह सब कहने भर को था। उन दिनों हम लोग जीवन की समस्याओं के साथ गम्भीरता के स्वाँग करके खेलते थे; क्योंकि उस वक़्त तक वे हमारे लिए वास्तविक समस्यायें न हो पायी थीं और हम लोग संसार के झमेलों के चक्कर में नहीं फँस पाये थे। वे दिन महायुद्ध से पहले के, बीसवीं शताब्दी के शुरू के दिन थे। कुछ ही दिनों में हमारा वह संसार मिटने को था––इसलिए कि जिससे ऐसे दूसरे संसार को जगह मिले जो दुनिया के युवकों के लिए मृत्यु और विनाश एवं पीड़ा तथा हृदय-वेदना से भरा हुआ था। लेकिन हम भविष्य का परदा तोड़कर आनेवाले ज़माने को नहीं देख सकते थे। हमें तो ऐसा लगता था कि हम किसी अचूक प्रगतिशील परिस्थिति से घिरे हुए हैं और जिनके पास इस परिस्थिति के लिए साधन थे उनके लिए तो वह सुखदायिनी थी।

मैंने भोग-वाद तथा वैसी ही दूसरी और उन दूसरी अनेक भावनाओं की चर्चा की है, जिन्होंने उन दिनों मुझ पर अपना असर डाला। लेकिन यह सोचना ग़लत होगा कि मैंने उन दिनों इन विषयों पर भली भाँति साफ़-साफ़ विचार कर लिया था, या मैंने उनकी बाबत स्पष्टतया निश्चित विचार करने की कोशिश करने की ज़रूरत भी समझी थी। वे तो कुछ अस्पष्ट लहरें भर थीं, जो मेरे मन में उठा करती थीं और जिन्होंने अपने इसी दौरान में अपना थोड़ा या बहुत प्रभाव मेरे ऊपर

अंकित कर दिया। इन बातों के ध्यान के बारे में मैं उन दिनों ऐसा परेशान नहीं होता था। उन दिनों तो मेरी ज़िन्दगी काम और विनोद से भरी हुई थी। सिर्फ़ एक चीज़ ऐसी ज़रूरी थी जिससे मैं कभी-कभी विचलित हो जाता था। वह थी हिन्दुस्तान की राजनैतिक कशमकश। केम्ब्रिज में जिन किताबों ने मेरे ऊपर राजनैतिक प्रभाव डाला उनमें मैरीडिथ टाउनसेण्ड की 'एशिया और यूरप' मुख्य है।

१९०७ से कई साल तक हिन्दुस्तान बेचैनी और कष्टों से मानों उबलता रहा। १८५७ के ग़दर के बाद पहली मर्तबा हिन्दुस्तान फिर लड़ने पर आमादा हुआ था। वह विदेशी शासन के सामने चुपचाप सिर झुकाने को तैयार न था। तिलक की हलचल और कारावास की तथा अरविन्द घोष की ख़बरों से और बंगाल की जनता जिस ढंग से स्वदेशी और बहिष्कार की प्रतिज्ञायें ले रही थी, उनसे इंग्लैण्ड में रहनेवाले तमाम हिन्दुस्तानियों में खलबली मच जाती थी। हम सब लोग बिना किसी अपवाद के तिकल-दल या गरम-दल के थे। हिन्दुस्तान में यह नया दल उन दिनों इन्हीं नामों से पुकारा जाता था।

केम्ब्रिज में जो हिन्दुस्तानी रहते थे उनकी एक सोसायटी थी, जिसका नाम था 'मजलिस'। इस मजलिस में हम लोग अक्सर राजनैतिक मामलों पर बहस करते थे, लेकिन ये बहसें कुछ हद तक बेवजूद थीं। पार्लमेण्ट की अथवा यूनिवर्सिटी-यूनियन की बहस की शैली तथा अदाओं की नक़ल करने की जितनी कोशिश की जाती थी उतनी विषय को समझने की नहीं। मैं अक्सर मजलिस में जाया करता था, लेकिन तीन साल में मैं वहाँ शायद ही बोला होऊँ। मैं अपनी झिझक और हिचकिचाहट को दूर नहीं कर सका। कॉलेज में ''मैगपी और स्टाम्प'' नाम की जो वाद-विवाद-सभा थी, उसमें भी मुझे इसी कठिनाई का सामना करना पड़ा। इस सभा में यह नियम था कि अगर कोई मेम्बर पूरी मियाद तक न बोले तो उसे जुर्माना देना पड़ेगा और मुझे अक्सर जुर्माना देना पड़ता था।

मुझे यह याद है कि एडविन मॉण्टेगु, जो पीछे जाकर भारत-मंत्री

हो गये थे, बहुत बार इस सभा में आया करते थे। वह ट्रिनिटी कॉलेज के पुराने विद्यार्थी थे और उन दिनों केम्ब्रिज की ओर से पार्लमेण्ट के मेम्बर थे। पहले-पहल श्रद्धा की अर्वाचीन परिभाषा मैंने उन्हींसे सुनी। जिस बात के बारे में तुम्हारी बुद्धि यह कहे कि वह सच नहीं हो सकती, उसमें विश्वास करना ही सच्ची श्रद्धा है, क्योंकि तुम्हारी तर्क-शक्ति ने भी उसे पसन्द कर लिया तो फिर अंधश्रद्धा का सवाल ही नहीं रहता। विश्वविद्यालय के विज्ञानों के अध्ययन का मुझपर बहुत प्रभाव पड़ा और विज्ञान उन दिनों जिस तरह अपने सिद्धान्तों और निश्चयों को ला-कमाल समझता था वैसा ही मैं समझने लगा था, क्योंकि उन्नीसवीं और बीसवीं सदी के शुरू का विज्ञान अपनी और संसार की बाबत बड़ा निश्चयात्मक था। आजकल का विज्ञान वैसा नहीं है।

मजलिस में और निजी बातचीत में हिन्दुस्तान की राजनीति पर चर्चा करते हुए हिन्दुस्तानी विद्यार्थी बड़ी गरम तथा उग्र भाषा काम में लाते थे, यहाँतक कि बंगाल में जो हिंसाकारी कार्य शुरू होने लगे थे उनकी भी तारीफ़ करते थे। लेकिन पीछे मैंने देखा कि यही लोग कुछ तो इंडियन सिविल सर्विस के मेम्बर हुए, कुछ हाईकोर्ट के जज हुए, कुछ बड़े धीर-गम्भीर बैरिस्टर आदि बन गये। इन आराम-गृह के आग-बबूलों में से बिरलों ने ही पीछे जाकर हिन्दुस्तान के राजनैतिक आन्दोलनों में कारगर हिस्सा लिया होगा।

हिन्दुस्तान के उन दिनों के कुछ नामी राजनीतिज्ञों ने केम्ब्रिज में हम लोगों को भेंट देने की कृपा की थी। हम उनकी इज़्ज़त तो करते थे, लेकिन हम उनसे इस तरह पेश आते थे मानों हम उनसे बड़े हैं। हम लोग महसूस करते थे कि हमारी संस्कृति उनसे कहीं बढ़ी-चढ़ी थी और दृष्टि व्यापक थी। जो लोग हमारे यहाँ आये उनमें विपिनचन्द्र पाल लाला लाजपतराय और गोपाल कृष्ण गोखले भी थे। विपिनचन्द्र पाल से हम अपनी एक बैठक में मिले। वहाँ हम सिर्फ़ एक दर्जन के क़रीब थे। लेकिन उन्होंने तो ऐसी गर्जना की कि मानो वह दस हज़ार की सभा में भाषण दे रहे हों। उनकी आवाज़ इतनी भयानक थी कि मैं

उनकी बात को बहुत ही कम समझ सका। लालाजी ने हमसे अधिक विवेक-पूर्ण ढंग से बातचीत की और उनकी बातों का मुझपर बहुत असर पड़ा। मैंने पिताजी को लिखा कि विपिनचन्द्र पाल के मुक़ाबिले में मुझे लालाजी का भाषण बहुत अच्छा लगा। इससे वह बड़े ख़ुश हुए क्योंकि उन दिनों उन्हें बंगाल के आग-बबूला राजनीतिज्ञ अच्छे नहीं लगते थे। गोखले ने केम्ब्रिज में एक सार्वजनिक सभा में भाषण दिया। उस भाषण की मुझे सिर्फ़ यही ख़ास बात याद है कि भाषण के बाद अब्दुलमजीद ख्वाजा ने एक सवाल पूछा था। हॉल में खड़े होकर उन्होंने जो सवाल पूछना शुरू किया तो पूछते ही चले गये, यहाँतक कि हममें से बहुतों को यही याद नहीं रहा कि सवाल शुरू किस तरह हुआ था और वह किस सम्बन्ध में था ?

हिन्दुस्तानियों में हरदयाल का बड़ा नाम था। लेकिन वह मेरे केम्ब्रिज में पहुँचने से कुछ पहले आक्सफ़ोर्ड में थे। अपने हॅरो के दिनों में मैं उनसे लन्दन में एक या दो बार मिला था।

केम्ब्रिज में मेरे समकालीनों में से कई ऐसे निकले जिन्होंने आगे जाकर हिन्दुस्तान की कांग्रेस की राजनीति में प्रमुख भाग लिया। जे० एम० सेनगुप्त मेरे केम्ब्रिज पहुँचने के कुछ दिन बाद ही वहाँ से चले गये। सैफुद्दीन किचलू, सैयद महमूद और तसद्दुक़ अहमद शेरवानी कम-बढ़ मेरे समकालीन थे। एस० एम० सुलेमान भी, जो इलाहाबाद-हाईकोर्ट के चीफ़ जस्टिस थे, मेरे समय में केम्ब्रिज में थे। मेरे दूसरे समकालीनों में से कोई मिनिस्टर बना और कोई इंडियन सिविल सर्विस का सदस्य।

लन्दन में हम श्यामजी कृष्ण वर्मा और उनके इण्डिया-हाउस की बाबत भी सुना करते थे, लेकिन मुझे न तो वह कभी मिले और न मैं कभी उस हाउस में गया ही। कभी-कभी हमें उनका 'इण्डियन-सोशलॉजिस्ट' नाम का अख़बार देखने को मिल जाता था। बहुत दिनों बाद, सन् १९२६ में श्यामजी मुझे जिनेवा में मिले थे। उनकी जेबें 'इंडियन-सोशलॉजिस्ट' की पुरानी कापियों से भरी पड़ी थीं और वह प्रायः हरेक

हिन्दुस्तानी को, जो उनके पास जाता था, ब्रिटिश-सरकार का भेजा हुआ भेदिया समझते थे।

लन्दन में इण्डिया-ऑफ़िस ने विद्यार्थियों के लिए एक केन्द्र खोला था। इसकी बावत तमाम हिन्दुस्तानी यही समझते थे कि यह हिन्दुस्तानी विद्यार्थियों के भेद जानने का एक जाल है और इसमें बहुत-कुछ सचाई भी थी। फिर भी यह बहुत-से हिन्दुस्तानियों को चाहे मन से हो या वेमन से, बरदाश्त करना पड़ता था, क्योंकि उसकी सिफ़ारिश के बिना किसी विश्वविद्यालय में दाखिल होना ग़ैरमुमकिन हो गया था।

हिन्दुस्तान की राजनैतिक स्थिति ने पिताजी को अधिक सक्रिय राजनीति की ओर खींच लिया था और मुझे इस बात से खुशी हुई थी, हालाँकि मैं उनकी राजनीति से सहमत नहीं था। यह स्वाभाविक ही था कि वह माडरेटों में शामिल हुए, क्योंकि उनमें से बहुतों को वह जानते थे और उनमें बहुत-से वकालत में उनके साथी थे। उन्होंने अपने सूबे की एक कान्फ्रेंस का सभापतित्व भी किया था, और बंगाल तथा महाराष्ट्र के गरम दलवालों की तीव्र आलोचना की थी। वह संयुक्त प्रान्तीय कांग्रेस कमिटी के अध्यक्ष भी बन गये थे। १९०७ में जिस समय सूरत में कांग्रेस में गोलमाल होकर वह भंग हुई और अन्त में सोलहों आना माडरेटों की हो गयी, उस समय वह वहाँ उपस्थित थे।

सूरत के कुछ ही दिनों बाद एच० डबल्यू० नेविन्सन कुछ समय तक इलाहाबाद में पिताजी के अतिथि बनकर रहे। उन्होंने हिन्दुस्तान पर जो किताब लिखी उसमें पिताजी की बावत लिखा कि "वह मेहमानों की ख़ातिर-तवाज़ो को छोड़कर और सब बातों में माडरेट हैं।" उनका यह अन्दाज़ क़तई ग़लत था; क्योंकि पिताजी अपनी नीति को छोड़कर और किसी बात में कभी माडरेट नहीं रहे, और उनकी प्रकृति ने धीरे-धीरे उनको उस बची-खुची नरमी से भी अलग भगा दिया। प्रचण्ड भावों, प्रबल विकारों, घोर अभिमान और महती इच्छा-शक्ति से सम्पन्न वह माडरेटों की जाति से बहुत ही दूर थे। फिर भी १९०७ और १९०८ में और कुछ साल बाद तक वह बेशक माडरेटों में भी माडरेट

थे, और गरमदल के सख़्त ख़िलाफ़ थे, हालाँकि मेरा ख़याल है कि वह तिलक की तारीफ़ करते थे।

ऐसा क्यों था? क़ानून और विधि-विधान ही उनके बुनियादी पाये थे, सो उनके लिए यह स्वाभाविक ही था कि वह राजनीति को वकील और विधानवादी की दृष्टि से देखते। उनकी स्पष्ट विचारशीलता ने उन्हें यह दिखाया कि कड़े और गरम शब्दों से तबतक कुछ होता जाता नहीं, जबतक कि इन शब्दों के मुताबिक़ काम न हो और उन्हें किसी कारगर काम की कोई सम्भावना नज़दीक़ दिखायी नहीं देती थी। उनको यह मालूम नहीं होता था कि स्वदेशी और बहिष्कार के आन्दोलन हमें बहुत दूर तक ले जा सकेंगे। इसके अलावा उन आन्दोलनों की पुश्त में वह धार्मिक राष्ट्रीयता थी जो उनकी प्रकृति के प्रतिकूल थी। वह प्राचीन भारत के पुनरुद्धार की ओर आशा नहीं लगाते थे। ऐसी बातों को न तो वह कुछ समझते ही थे, न इनसे उन्हें कोई हमदर्दी ही थी। इसके अलावा बहुत से पुराने सामाजिक रीति-रिवाजों को, जात-पाँत वग़ैरा को, क़तई नापसन्द करते थे, और उन्हें उन्नति-विरोधी समझते थे। उनकी दृष्टि पश्चिम की ओर थी। पाश्चात्य ढंग की उन्नति की ओर उनका बहुत अधिक आकर्षण था, और वह समझते थे कि ऐसी उन्नति हमारे देश में इंग्लैण्ड के संसर्ग से ही आ सकती है। १९०७ में हिन्दुस्तान की राष्ट्रीयता का जो पुनरुत्थान हुआ वह सामाजिक दृष्टि से ज़रूर पीछे घसीटनेवाला था। हिन्दुस्तान की नयी राष्ट्रीयता, पूर्व के दूसरे देशों की तरह अवश्य ही धार्मिकता को लिये हुए थी। इस दृष्टि से माडरेटों का सामाजिक दृष्टिकोण अधिक उन्नतिशील था। परन्तु वे तो चोटी के सिर्फ़ मुट्ठीभर मनुष्य थे जिनका आम जनता से कोई सम्बन्ध न था। वे समस्याओं पर अर्थशास्त्र की दृष्टि से अधिक विचार नहीं करते थे, महज़ उस ऊपरी मध्यम वर्ग के लोगों के दृष्टि-कोण से विचार करते थे जिसके वे प्रतिनिधि थे और जो अपने विकास के लिए जगह चाहता था। वे जति के बन्धनों को ढीला करने और उन्नति को रोकनेवाले पुराने सामाजिक रिवाजों को दूर करने के लिए

छोटे-छोटे सामाजिक सुधारों की पैरवी करते थे।

माडरेटों के साथ अपना भाग्य भिड़ाकर पिताजी ने आक्रामक ढंग इख़्तियार किया। बंगाल और पूना के कुछ नेताओं को छोड़कर अधिकांश गरम-दलवाले नौजवान थे, और पिताजी को इस बात से बहुत चिढ़ थी कि ये कल के छोकरे अपने मन-माफ़िक काम करने की हिम्मत करते हैं। विरोध से वह अधीर हो जाते थे, विरोध को सहन नहीं कर सकते थे। जिन लोगों को वह बेवकूफ़ समझते थे उनको तो फूटी आँख भी नहीं देख सकते थे, और इसलिए वह जब कभी मौक़ा मिलता उनपर टूट पड़ते थे। मेरा खयाल है कि केम्ब्रिज छोड़ने के बाद मैंने उनका एक लेख पढ़ा था, जो मुझे बहुत बुरा मालूम हुआ था और मैंने उन्हें एक गुस्ताख़ाना ख़त लिखा, जिसमें मैंने यह भी झलकाया कि इसमें शक नहीं कि आपकी राजनैतिक कार्रवाइयों से ब्रिटिश-सरकार बहुत खुश हुई होगी। यह एक ऐसी बात थी जिसे सुनकर वह आपे से बाहर हो सकते थे, और वह सचमुच बहुत नाराज़ हुए भी। उन्होंने क़रीब-क़रीब यहाँतक सोच लिया था, कि मुझे फ़ौरन इंग्लैण्ड से वापस बुला लें।

जब मैं केम्ब्रिज में रहता था तभी यह सवाल उठ खड़ा हुआ था कि मुझे कौन-सा 'कैरियर' चुनना चाहिए? कुछ समय के लिए इण्डियन सिविल सर्विस की बात भी सोची गयी। उन दिनों तक उसमें एक ख़ास आकर्षण था। परन्तु चूँकि न तो पिताजी ही उसके लिए बहुत उत्सुक थे न मैं ही, वह विचार छोड़ दिया गया। ख़याल है कि इसका मुख्य कारण यह था कि उसके लिए अभी मेरी उम्र कम थी और अगर मैं उस इम्तिहान में बैठना चाहता तो मुझे अपनी डिग्री लेने के बाद भी तीन-चार साल और वहाँ ठहरना पड़ता। मैंने केम्ब्रिज में जब अपनी डिग्री ली तब मैं बीस वर्ष का था और उन दिनों इण्डियन सिविल सर्विस के लिए उम्र की मियाद बाईस बरस से लेकर चौबीस बरस तक थी। इम्तिहान में कामयाब होने पर इंग्लैण्ड में एक साल और बिताना पड़ता है। मेरे परिवार के लोग मेरे इंग्लैण्ड में इतने दिनों तक रहने के कारण ऊब गये थे और चाहते थे कि मैं जल्दी से घर लौट आऊँ। पिताजी पर

एक बात का और भी जोर पड़ा और वह यह थी कि अगर मैं आई० सी० एस० हो जाता तो मुझे घर से दूर-दूर जगहों में रहना पड़ता। पिताजी और माँ दोनों ही यह चाहते थे कि इतने दिनों तक अलग रहने के बाद मैं उनके पास ही रहूँ। बस, पाशा पुश्तैनी पेशे के यानी वकालत के पक्ष में पड़ा और मैं इनर टैम्पिल में भरती हो गया।

यह अजीब बात है कि राजनीति में गरम-दल की ओर झुकाव बढ़ता जाने पर भी आई० सी० एस० में शामिल होने को और इस तरह हिन्दुस्तान में ब्रिटिश-शासन की मशीन का एक पुरजा बनने के खयाल को मैंने ऐसा बुरा नहीं समझा। आगे के सालों में इस तरह का खयाल मुझे बहुत त्याज्य मालूम होता।

१९१० में अपनी डिग्री लेने के बाद मैं केम्ब्रिज से चला आया। ट्राइपस के इम्तिहान में मुझे मामूली सफलता मिली—दूसरे दर्जे में सम्मान के साथ पास हुआ। अगले दो साल मैं लन्दन के इधर-उधर घूमता रहा। मेरी क़ानून की पढ़ाई में बहुत समय नहीं लगता था और बैरिस्टरी के एक के बाद दूसरे इम्तिहान में मैं पास होता रहा। हाँ, उसमें मुझे न तो सम्मान मिला, न अपमान। बाक़ी वक्त मैंने यों ही बिताया। कुछ आम किताबें पढ़ीं, फैबियन[1] और साम्यवादी[2] विचारों की ओर एक अस्पष्ट आकर्षण हुआ और उन दिनों के राजनैतिक आन्दोलन में भी दिलचस्पी ली। आयर्लेण्ड और स्त्रियों के मताधिकार के आन्दोलनों में मेरी ख़ास दिलचस्पी थी। मुझे यह भी याद है कि १९१० की गरमी

१–२. १८८४ में स्थापित समाजवादी सिद्धान्त रखनेवालों की संस्था और उसके सदस्य। ये क्रान्ति के द्वारा सुधार नहीं चाहते। पर आशा रखते हैं कि लेखों और प्रचार के द्वारा औद्योगिक स्थिति में सुधार हो जायगा। समाजवादी इससे आगे गये। उन्होंने अपना ध्येय बनाया—जमीन और सम्पत्ति का मालिक समाज है और समाज की ही सत्ता उसपर होनी चाहिए—इस सिद्धान्त के आधार पर क्रान्ति करना। इस कारण फ़ैबियन महज़ 'म्यूनिसिपल समाजवादी' नाम के पात्र हुए। अनु०

में जब मैं आयर्लैण्ड गया तो सिनफ़िन-आन्दोलन की शुरुआत ने मुझे अपनी तरफ़ खींचा था।

इन्हीं दिनों मुझे हॅरो के पुराने दोस्तों के साथ रहने का मौक़ा मिला और उसके साथ मेरी आदतें ख़र्चीली हो गयी थीं। पिताजी मुझे ख़र्च के लिए काफ़ी रुपया भेजते थे। लेकिन मैं अक्सर उससे भी ज्यादा ख़र्च कर डालता था, इसलिए उन्हें मेरे बारे में बड़ी चिन्ता हो गयी थी। उन्हें अंदेशा हो गया था कि कहीं मैं बुरे रास्ते तो नहीं पड़ गया हूँ। परन्तु असल में ऐसी कोई खास बात मैं नहीं कर रहा था। मैं तो सिर्फ़, उन ख़ुशहाल परन्तु कमअक्ल अंग्रेजों की देखादेखी भर कर रहा था जो बड़े ठाट-बाट में रहा करते थे। यह कहना बेकार है कि इस उद्देशहीन आराम-तलबी की ज़िन्दगी से मेरी किसी तरह की कोई तरक्की नहीं हुई। मेरे पहले के हौसले ठंडे पड़ने लगे और ख़ाली एक चीज जो बढ़ रही थी वह था मेरा घमण्ड।

छुट्टियों में मैंने कभी-कभी यूरप के भिन्न-भिन्न देशों की भी सैर की। १९०९ की गरमी में जब काउण्ट ज़ैपलिन अपने नये हवाई जहाज़ में कौन्स्टैन्स झील पर फ्रीडरिश शैफिन से उड़कर बर्लिन आये, तब मैं और पिताजी दोनों वहीं थे। मेरा ख़याल है कि वह उसकी सबसे पहली लम्बी उड़ान थी। इसलिए उस अवसर पर बड़ी ख़ुशियाँ मनायी गयीं और ख़ुद क़ैसर ने उसका स्वागत किया। बर्लिन के टेम्पिलोफ फ़ील्ड में जो भीड़ इकट्ठी हुई थी वह दस लाख से लेकर बीस लाख तक कूती गयी थी। ज़ैपलिन ने ठीक समय पर आकर बड़ी वज़ादारी के साथ ऊपर-ऊपर हमारी परिक्रमा की। ऐडलॉ होटल ने उस दिन अपने सब निवासियों को काउण्ट ज़ैपलिन का एक-एक सुन्दर चित्र भेंट किया था। वह चित्र अबतक मेरे पास है।

कोई दो महीने बाद हमने पैरिस में वह हवाई जहाज़ देखा जो उस शहर पर पहले-पहल उड़ा और जिसने एफ़िल टावर के चक्कर पहले-पहल लगाये। मेरा ख़याल है कि उड़ाके का नाम कोंत द लांबेर था। अठारह बरस बाद, जब लिंडबर्ग अटलांटिक के उस पार से चमकते

हुए तीर की तरह उड़कर पैरिस आया था, तब भी मैं वहाँ था।

१९१० में केम्ब्रिज से अपनी डिग्री लेने के बाद फौरन ही जब मैं सैर-सपाटे के लिए नार्वे गया था, तब मैं बाल-बाल बच गया। हमलोग पहाड़ी प्रदेश में पैदल घूम रहे थे। बुरी तरह थके हुए एक छोटे से होटल में अपने मुकाम पर पहुँचे, और गरमी के मारे नहाने की इच्छा प्रकट की। वहाँ ऐसी बात पहले किसीने न सुनी थी। होटल में नहाने के लिए कोई इन्तिज़ाम न था। लेकिन हमको यह बता दिया गया कि हमलोग पास की एक नदी में नहा सकते हैं। अतः मेज के या मुहँ पोंछने के छोटे-छोटे तौलियों से जो होटलवालों ने हमें उदारतापूर्वक दिये थे, सुसज्जित होकर हममें से दो, एक मैं और एक नौजवान अंग्रेज, पड़ौस के हिम-सरोवर से निकलती और दहाड़ती हुई तूफ़ानी धारा में जा पहुँचे। मैं पानी में घुस गया। वह गहरा तो न था, लेकिन ठंडा इतना था कि हाथ-पाँव जमे जाते थे और उसकी ज़मीन बड़ी रपटीली थी। मैं रपटकर गिर गया। बरफ़ की तरह ठंडे पानी से मेरे हाथ-पैर निर्जीव हो गये। मेरा शरीर और सारे अवयव सुन्न पड़ गये, मेरे पैर जम न सके, तूफ़ानी धारा मुझे तेज़ी से बहाये ले जा रही थी, परन्तु मेरे अंग्रेज साथी ने किसी तरह बाहर निकलकर मेरे साथ भागना शुरू किया और अन्त में मेरा पैर पकड़ने में कामयाब होकर उसने मुझे बाहर खींच लिया। इसके बाद हमें मालूम हुआ कि हम कितने बड़े ख़तरे में थे; क्योंकि हमसे दो-तीन-सौ गज़ की दूरी पर यह पहाड़ी धारा एक विशाल चट्टान के नीचे गिरती थी जिसका जल-प्रपात उस जगह की एक दर्शनीय बात थी।

१९१२ की गर्मी में मैंने बैरिस्टरी पास कर ली और उसी शरद् ऋतु में मैं, कोई सात साल से ज्यादा इंग्लैण्ड में रहने के बाद, आखिर को हिन्दुस्तान लौट आया। इस बीच छुट्टी के दिनों में दो बार मैं घर गया था। परतु अब मैं हमेशा के लिए लौटा और मुझे लगा कि जब मैं बम्बई में उतरा तो अपने पास कुछ न होते हुए भी अपने बड़प्पन का अभिमान लेकर उतरा था।

: ५ :

लौटने पर

देश का राजनैतिक वातावरण

१९१२ के अख़ीर में राजनैतिक दृष्टि से हिन्दुस्तान बहुत फीका मालूम होता था। तिलक जेल में थे, गरम-दलवाले कुचल दिये गये थे। किसी प्रभावशाली नेता के न होने से वे चुपचाप पड़े हुए थे। वंग-भंग दूर होने पर बंगाल में शान्ति हो गयी थी और सरकार को, कौंसिलों की मिन्टो-मॉर्ले योजना के मातहत, माडरेटों को अपने वश करने में कामयाबी मिल गयी थी। प्रवासी भारतवासियों की समस्या, ख़ासतौर पर दक्षिण अफ्रीका में रहनेवाले भारतीयों की दशा के बारे में, कुछ दिलचस्पी ज़रूर ली जाती थी। कांग्रेस माडरेटों के हाथ में थी। साल भर में एक बार उसका जलसा होता था और वह कुछ ढीले-ढाले प्रस्ताव पास कर देती थी। उसकी तरफ़ लोगों का ध्यान बहुत ही कम जाता था।

१९१२ की बड़े दिन की छुट्टियों में मैं डेलीगेट की हैसियत से बाँकीपुर की कांग्रेस में शामिल हुआ। बहुत हदतक वह अंग्रेज़ी जाननेवाले उच्च श्रेणी के लोगों का उत्सव था। जहाँ सुबह पहनने के कोट और सुन्दर इस्त्री किये हुए पतलून बहुत दिखायी देते थे। वस्तुतः वह एक सामाजिक उत्सव था, जिसमें किसी प्रकार की राजनैतिक गरमागरमी न थी। गोखले, जो हाल ही अफ्रीका से लौटकर आये थे, उसमें शामिल हुए थे। उस अधिवेशन के प्रमुख वही थे। उनकी तेजस्विता, उनकी सच्चाई और उनकी शक्ति से वहाँ आये उन थोड़े से व्यक्तियों में वही एक ऐसे मालूम होते थे जो राजनीति और सार्वजनिक मामलों पर संजीदगी से विचार करते थे और उनके सम्बन्ध में गहराई से सोचते थे। मुझपर उनका अच्छा प्रभाव पड़ा।

जब गोखले बाँकीपुर से लौट रहे थे तब एक ख़ास घटना हो गयी।

वह उन दिनों पब्लिक सर्विस कमीशन के सदस्य थे। उस हैसियत से उन्हें अपने लिए एक फर्स्ट क्लास का डब्बा रिज़र्व कराने का हक़ था। उनकी तबीयत ठीक न थी और लोगों की भीड़ से तथा बेमेल साथियों से उनके आराम में खलल पड़ता था। इसलिए वह चाहते थे कि उन्हें एकान्त में चुपचाप पड़ा रहने दिया जाय और कांग्रेस के अधिवेशन के बाद वह चाहते थे कि सफ़र में उन्हें शान्ति मिले। उन्हें उनका डब्बा मिल गया, लेकिन बाक़ी गाड़ी कलकत्ता लौटनेवाले प्रतिनिधियों से ठसा-ठस भरी हुई थी। कुछ समय के बाद, भूपेन्द्रनाथ वसु जो बाद में जाकर इंडिया कौंसिल के मेम्बर हुए, गोखले के पास गये और यों ही उनसे पूछने लगे कि क्या मैं आपके डब्बे में सफ़र कर सकता हूँ ? यह सुनकर पहले तो गोखले कुछ चौंके, क्योंकि वसु महाशय बड़े बातूनी थे, लेकिन फिर स्वभाव-वश वह राजी हो गये। चन्द मिनट बाद श्री वसु फिर गोखले के पास आये और उनसे कहने लगे कि अगर मेरे एक और दोस्त आपके साथ इसी कम्पार्टमेण्ट में चले चलें, तो आपको तकलीफ़ तो न होगी। गोखले ने फिर चुप-चाप 'हाँ' कर दिया। ट्रेन छूटने से कुछ समय पहले वसु साहब ने फिर उसी ढंग से कहा कि मुझे और मेरे साथी को ऊपर की बर्थों पर सोने में बहुत तकलीफ़ होगी, इसलिए अगर आपको तकलीफ़ न हो तो आप ऊपर की बर्थ पर सो जायँ। मेरा ख़याल है कि अन्त में यही हुआ। बेचारे गोखले को ऊपरी बर्थ पर चढ़कर जैसे-तैसे रात बितानी पड़ी !

मैं हाईकोर्ट में वकालत करने लगा। कुछ हद तक मुझे अपने काम में दिलचस्पी आने लगी। यूरप से लौटने के बाद शुरू-शुरू के महीने बड़े आनन्द के थे। मुझे घर आने और वहाँ आकर पुरानी मेल-मुलाक़ातें क़ायम कर लेने से खुशी हुई। परन्तु धीरे-धीरे, अपनी तरह के अधिकांश लोगों के साथ जिस तरह की ज़िन्दगी बितानी पड़ती थी, उसकी सब ताज़गी ग़ायब होने लगी और मैं यह महसूस करने लगा कि मैं बेकार और उद्देश्यहीन जीवन की नीरस खाना-पूरी में ही फँस रहा हूँ। मैं समझता हूँ कि मेरी दोग़ली, कम-से-कम खिचड़ी, शिक्षा इस

बात के लिए उत्तरदायी थी कि मेरे मन में अपनी परिस्थितियों से असन्तोष था। इंग्लैंड की अपनी सात बरस की ज़िन्दगी में मेरी जो आदतें और जो भावनायें बन गयी थीं वे जिन चीज़ों को मैं यहाँ देखता था उनसे मेल नहीं खाती थीं। तक़दीर से मेरे घर का वायुमण्डल बहुत अनुकूल था और उससे कुछ शान्ति भी मिलती थी। परन्तु उतना काफ़ी न था। उसके बाद तो वही बार-लाइब्रेरी, वही क्लब और दोनों में वही साथी, जो उन्हीं पुराने विषयों पर, आमतौर पर कानूनी पेशे-सम्बन्धी बातों पर ही बार-बार बातें करते थे। निस्सन्देह यह वायुमण्डल ऐसा न था जिससे बुद्धि को कुछ गति या स्फूर्ति मिले, और मेरे मन में जीवन के नितान्त नीरसपन या मनहूसी का भाव घर करने लगा। कहने योग्य विनोद या प्रमोद की बातें भी न थीं।

ई० एम० फॉर्स्टर ने हाल ही में लॉज़ डिकिंसन की जो जीवनी लिखी है, उसमें उन्होंने लिखा है कि डिकिंसन नें एक बार हिन्दुस्तान के बारे में कहा था कि "ये दोनों जातियाँ (यूरोपियन और हिन्दुस्तानी) एक दूसरे से मिल क्यों नहीं सकतीं? महज़ इसलिए, कि हिन्दुस्तानियों से अंग्रेज़ ऊब जाते हैं, यही सीधा और कठोर सत्य है।" यह संभव है कि बहुत से अंग्रेज़ यही महसूस करते हों और इसमे कोई आश्चर्य की बात भी नहीं है। दूसरी पुस्तक में फ़ॉर्स्टर ने कहा है कि हिन्दुस्तान में हरेक अंग्रेज़ यही महसूस करता है, और उसीके मुताबिक़ बर्ताव करता है कि वह विजित देश पर क़ब्ज़ा बनाये रखनेवाली सेना का एक सदस्य है, और ऐसी हालत में दोनों जातियों में परस्पर सहज और संकोचहीन सम्बन्ध स्थापित होना असम्भव है। हिन्दुस्तानी और अंग्रेज़ दोनों ही एक-दूसरे के सामने बनते हैं और स्वभावतः दोनों एक-दूसरे के सामनें असुविधा अनुभव करते हैं। दोनों एक-दूसरे से ऊबे रहते हैं और जब दोनों ही एक-दूसरे से अलग होते हैं तो उन्हें खुशी होती है और वे आज़ादी के साथ साँस लेते तथा फिर से स्वाभाविक रूप से चलने-फिरने लगते हैं।

आम तौर पर अंग्रेज़ एक ही क़िस्म के हिन्दुस्तानियों से मिलते हैं—उन लोगों से जिनका हाकिमों की दुनिया से ताल्लुक़ रहता है। वास्तव

में भले और बढ़िया लोगों तक उनकी पहुँच ही नहीं होती और अगर ऐसा कोई शख़्स उन्हें मिल भी जाय, तो वे उसे जी खोलकर बात करने को तैयार नहीं कर पाते। हिन्दुस्तान में ब्रिटिश शासन ने, सामाजिक मामलों में भी, हाकिमों की श्रेणी को ही महत्त्व देकर आगे बढ़ाया है। इसमें हिन्दुस्तानी और अंग्रेज दोनों ही तरह के हाकिम आ जाते हैं। इस वर्ग के लोग खास तौर पर मट्ठे और तंग ख़याल के होते हैं। एक सुयोग्य अंग्रेज़ नौजवान भी हिन्दुस्तान में आने पर शीघ्र ही एक प्रकार की मानसिक और सांस्कृतिक तन्द्रा में ग्रस्त हो जाता है तथा समस्त सजीव विचारों और आन्दोलनों से अलग हो जाता है। दफ्तर में दिन-भर मिसलों में, जो हमेशा चक्कर लगाती रहती हैं और कभी ख़तम नहीं होतीं, सर खपाकर ये हाकिम थोड़ा-सा व्यायाम करते हैं। फिर वहाँसे अपने समाज के लोगों से मिलने-जुलने को क्लब में चले जाते हैं, वहाँ व्हिस्की पीकर 'पंच' तथा इंग्लैंड से आये हुए सचित्र साप्ताहिक पत्र पढ़ते हैं—किताब तो वे शायद ही पढ़ते हों। पढ़ते भी होंगे तो अपनी किसी पुरानी मनचाही किताब को ही। इसपर भी अपने इस धीमे मानसिक ह्रास के लिए आप हिन्दुस्तान पर दोष मढ़ते हैं, यहाँकी आब-हवा को कोसते हैं और आमतौर पर आन्दोलन करनेवालों को बददुआ देते हैं, जो उनकी दिक्क़तें बढ़ाते हैं। लेकिन यह महसूस नहीं कर पाते कि उनके मानसिक और सांस्कृतिक क्षय का कारण वह मज़बूत नौकर-शाही तथा स्वेच्छाचारी शासन-प्रणाली है जो हिन्दुस्तान में प्रचलित है और वह खुद जिसका एक छोटा-सा पुर्जा है।

जब छुट्टियों और फ़र्लो के बाद भी अंग्रेज हाकिमों की यह हालत है तब जो हिन्दुस्तानी अफ़सर उनके साथ या उनके मातहत काम करते हैं वे उनसे बेहतर कैसे हो सकते हैं, क्योंकि वे अंग्रेजी नमूनों की नक़ल करने की कोशिश करते हैं। साम्राज्य की राजधानी नयी दिल्ली में ऊँचे हिंदुस्तानी और अंग्रेज़ हाक़िमों के पास बैठकर, तरक्कियों, छुट्टी के क़ायदों, तबादिलों और नौकरों की रिश्वतखोरी तथा बेईमानियों वग़ैरा के कभी ख़त्म न होने वाले क़िस्सों को सुनने से ज्यादा जी घबड़ानेवाली बात शायद ही कोई हो।

शायद कुछ हद तक कलकत्ता, बम्बई जैसे शहरों को छोड़कर बाक़ी सब जगहों में इस हाकिमाना और 'सर्विस' के वातावरण ने हिन्दुस्तान की मध्यम श्रेणी के लगभग तमाम लोगों की ज़िन्दगी, खास तौर पर अंग्रेज़ी पढ़े-लिखे लोगों के जीवन पर, चढ़ाई करके उसे अपने रंग में रंग दिया। पेशवर लोग जैसे वकील, डाक्टर तथा दूसरे लोग भी उसके शिकार हो गये, और अर्ध सरकारी, विश्वविद्यालयों के शिक्षा-भवन भी उससे न बच सके। ये सब लोग अपनी एक अलग दुनिया में रहते हैं जिसका सर्व-साधारण से तथा मध्यम श्रेणी के नीचे के लोगों से क़तई कोई ताल्लुक़ नहीं है। उन दिनों राजनीति इसी ऊपर की तह के लोगों तक महमूद थी। बंगाल में १९०६ से राष्ट्रीयता के आन्दोलन ने ज़रा इस वस्तुस्थिति को झकझोरकर बंगाल के मध्यम श्रेणी के निचले लोगों में और कुछ हद तक जनता में भी नयी जान डाल दी। आगे चलकर गांधीजी के नेतृत्व में यह सिलसिला और तेज़ी से बढ़ने को था। परन्तु राष्ट्रीय संग्राम जीवनप्रद होने पर भी वह एक संकीर्ण सिद्धान्त होता है, और वह अपने में इतनी अधिक शक्ति तथा इतना अधिक ध्यान लगवा लेता है कि दूसरे कामों के लिए कुछ नहीं बचता।

इसलिए इंग्लैण्ड से लौटने के बाद उन शुरू के सालों में, मैं जीवन से असंतोष अनुभव करने लगा। अपने वकालत के पेशे में मुझे पूरा उत्साह नहीं था। राजनीति के मानी मेरे मन में यह थे कि विदेशी शासन के खिलाफ़ उग्र राष्ट्रीय आन्दोलन हो। लेकिन उस समय की राजनीति में इसके लिए कोई गुंजाइश नहीं थी। मैं कांग्रेस में शरीक हो गया और उसकी बैठकों में जाता रहता, फिजी में हिन्दुस्तानी मजदूरों के लिए शर्तबन्दी कुल-प्रथा के खिलाफ़ या दक्षिण अफ्रीका में प्रवासी भारतीयों के साथ दुर्व्यहार किये जाने के खिलाफ़ यानी ऐसे खास मौक़ों पर जब कभी कोई आन्दोलन उठ खड़ा होता, तो मैं अपनी पूरी ताक़त से उसमें जुटकर खूब मेहनत करता। लेकिन ये काम तो सिर्फ़ कुछ समय के लिए ही होते थे।

शिकार जैसे दूसरे कामों में मैंने अपना जी बहलना चाहा, लेकिन

उसकी तरफ़ी मेरा ख़ास लगाव या झुकाव न था। बाहर जाना और जंगल में घूमना तो मुझे अच्छा लगता था, लेकिन इस बात की ओर मैं कम ध्यान देता कि कोई जानवर मारूँ। सच बात तो यह है कि मैं जानवरों को मारने के लिए कभी मशहूर नहीं हुआ, हालाँकि एक दिन कश्मीर में थोड़े-बहुत इत्तिफ़ाक़ से ही एक रीछ के मारने में मुझे कामयाबी मिल गयी थी। शिकार के लिए मेरे मन में जो थोड़ा-बहुत उत्साह था, वह भी एक छोटे-से बारहसिंगे के साथ जो घटना हुई उससे ठंडा पड़ गया। यह छोटा-सा निर्दोष अहिंसक पशु चोट से मरकर मेरे पैरों पर गिर पड़ा और अपनी आँसूभरी बड़ी-बड़ी आँखों से मेरी तरफ़ देखने लगा। तबसे उन आँखों की मुझे अक्सर याद आ जाती है।

उन शुरू के सालों में श्री गोखले की भारत-सेवक समिति की ओर भी मेरा आकर्षण हुआ था। मैंने उसमें शामिल होने की बात तो कभी नहीं सोची। कुछ तो इसलिए कि उनकी राजनीति मेरे लिए बहुत ही नरम थी, और कुछ इसलिए कि उन दिनों अपना पेशा छोड़ने का मेरा कोई इरादा न था। परन्तु समिति के मेम्बरों के लिए मेरे दिल में बड़ी इज्ज़त थी, क्योंकि उन्होंने निर्वाहमात्र पर अपने को स्वदेश की सेवा में लगा दिया था। मैंने दिल में कहा कि कम-से-कम यह एक समिति ऐसी है, जिसके लोग एकाग्र-चित्त होकर लगातार सीधा काम करते हैं, फिर चाहे वह काम सोलहों आने ठीक दिशा में भले ही न हो।

विश्व-व्यापी महायुद्ध शुरू हुआ और उसमें हमारा ध्यान लग गया, हालाँकि वह हमसे बहुत दूर हो रहा था। शुरू में उससे हमारे जीवन पर ऐसा ज्यादा प्रभाव नहीं पड़ा और हिन्दुस्तान ने तो उसकी वीभत्सता का पूरा स्वरूप अनुभव भी नहीं किया। राजनीति के बरसाती नाले बहते और लोप हो जाते थे। 'ब्रिटिश डिफ़ेन्स आफ रिएल्म एक्ट' की तरह जो 'भारत रक्षा क़ानून' बना था, देश को वह जोर से जकड़े हुए था। लड़ाई के दूसरे साल से ही षड्यंत्रों की और गोलियों से मारे जाने की ख़बरें आने लगीं। उधर पंजाब में रंगरूटों की ज़बरन् भरती की ख़बरें सुनायी देती थीं।

यद्यपि लोग ज़ोर-ज़ोर से राजभक्ति का राग अलापते थे, तो
ी अंग्रेज़ों के साथ उनकी बहुत ही कम हमदर्दी थी। जर्मनी की जीत
ी खबरें सुनकर क्या माडरेट और क्या गरमदलवाले दोनों को ही खुशी
ोती थी। यह नहीं कि किसीको जर्मनी से कोई प्रेम था, बल्कि यह
च्छा थी कि हमारे इन प्रभुओं का ग़रूर उतर जाय। भाव ऐसा ही था,
कमज़ोर और असहाय मनुष्यों के मन में अपने से ज़बरदस्त के दूसरे से
ीटे जाने की खबर सुनकर जैसी खुशी पैदा होती है। असल में यह
मेरा खयाल है कि हममें से अधिकांश इस लड़ाई के बारे में मिले-जुले भाव
रखते थे। जितने राष्ट्र लड़ रहे थे, उनमें मेरी हमदर्दी सबसे ज्यादा
फ्रान्सीसियों के साथ थी। मित्र राष्ट्रों की ओर से, बेहयाई के साथ जो
लगातार प्रचार किया गया, उसका कुछ असर ज़रूर पड़ा, यद्यपि हम
लोग उसकी सब बातें सही न मानने की काफ़ी कोशिश करते थे।

धीरे-धीरे फिर राजनैतिक जीवन बढ़ने लगा। लोकमान्य तिलक
जेल से बाहर आ गये, और उन्होंने तथा मिसेज़ बेसेन्ट ने होमरूल लीगें
क़ायम कीं। मैं दोनों लीगों में शामिल हुआ, लेकिन काम मैंने खास तौर
पर मिसेज़ बेसेन्ट की लीग के लिए ही किया। हिन्दुस्तान के राजनैतिक
मंच पर मिसेज़ बेसेन्ट दिनोंदिन अधिक भाग लेने लगीं। कांग्रेस के
वार्षिक अधिवेशनों में कुछ अधिक जोश भर गया और मुस्लिम लीग
कांग्रेस के साथ-साथ चलने लगी। वायु-मण्डल में बिजली-सी दौड़ गयी, और
हम-जैसे अधिकांश नवयुवकों का दिल फड़कने लगा। नज़दीक भविष्य
में हम बड़ी-बड़ी बातें होने की उम्मीदें करने लगे। मिसेज़ बेसेन्ट की
नज़रबन्दी से पढ़े-लिखे लोगों में बहुत उत्तेजना बढ़ी और उसने देश
भर में होमरूल आन्दोलन में जान डाल दी। होमरूल लीगों में न सिर्फ़
वे पुराने गरम-दलवाले ही शामिल हुए जो १९०७ से कांग्रेस से अलग
हो गये थे, बल्कि मध्यम श्रेणी के लोगों में से नये कार्यकर्त्ता भी आये।
लेकिन आम जनता को इन लोगों ने छुआ तक नहीं।

कई माडरेट लीडर भी आगे बढ़ते गये। उनमें से कुछ तो बाद को
पीछे हट गये, कुछ जहाँ पहुँच चुके थे, वहींके वहीं डटे रहे। मुझे याद

है कि 'यूरोपियन डिफेंस फ़ोर्स' के ढंग पर सरकार हिन्दुस्तान में मध्यम-वर्ग के लोगों में से जिस नये 'इण्डियन डिफेंस फ़ोर्स' का संगठन कर रही थी, उसके बारे में बड़ी चर्चा होती थी। कई मामलों में इस हिन्दुस्तानी डिफेंस फ़ोर्स के साथ वह व्यवहार नहीं किया जाता था, जो यूरोपियन डिफेंस फ़ोर्स के साथ किया जाता था, और हममें से बहुतों को यह महसूस हुआ कि जबतक यह सब अपमानजनक भेद-भाव न मिटा दिया जाय, तब तक हमें इस फ़ोर्स से सहयोग न करना चाहिए। लेकिन बहुत बहस के बाद, आख़िर हम लोगों ने संयुक्त प्रांत में सहयोग करना ही तय किया, क्योंकि यह सोचा गया कि इन हालतों में भी हमारे नौजवानों के लिए यह अच्छा है कि वे फ़ौजी शिक्षा ग्रहण करें। मैंने इस फोर्स में दाखिल होने के लिए अपनी अर्ज़ी भेज दी, और उस तजवीज़ को बढ़ाने के लिए हम लोगों ने इलाहाबाद में एक कमेटी भी बना ली। इसी समय मिसेज़ बेसेन्ट की नजरबन्दी हुई, और उस क्षण के जोश में मैंने कमेटी के मेम्बरों को, जिनमें पिताजी, डाक्टर तेजबहादुर सप्रू, श्री सी० वाई० चिन्तामणि तथ दूसरे माडरेट लीडर शामिल थे, इस बात के लिए राज़ी कर लिया कि वे अपनी मीटिंग रद कर दें, और सरकार की नज़रबन्दीवाली हरकत के विरोध-स्वरूप डिफेंस फोर्स के सिलसिले के दूसरे सब काम भी बन्द कर दें। तुरन्त ही इस मतलब का एक आम नोटिस निकाल दिया गया। मेरा ख़याल है कि लड़ाई के वक़्त में ऐसा लड़ाकू काम करने के लिए इनमें से कुछ लोग पीछे बहुत पछताये।

मिसेज़ बेसेन्ट की नज़रबन्दी का नतीजा यह हुआ कि पिताजी तथा दूसरे माडरेट लीडर होम-रूल लीग में शामिल हो गये। कुछ महीने बाद ज्यादातर माडरेट नेताओं ने लीग से स्तीफ़ा दे दिया। पिताजी उसके मेम्बर बने रहे और उसकी इलाहाबाद शाखा के सभापति भी बन गये।

धीरे-धीरे पिताजी कट्टर माडरेटों की स्थिति से अलग हटते जा रहे थे। उनकी प्रकृति तो जो सत्ता हमारी उपेक्षा करती थी और हमारे साथ हिक़ारत का बर्ताव करती थी, उससे ज्यादा दबने और उसीसे अपील करने के ख़िलाफ़ बग़ावत करती थी, पुराने नरम-

दल के नेता उन्हें आकर्षित नहीं करते थे। उनकी भाषा और उनके ढंग उन्हें बहुत खटकते थे। मिसेज़ बेसेण्ट की नज़रबन्दी की घटनाओं का उनके ऊपर काफ़ी असर पड़ा, लेकिन आगे क़दम रखने से पहले वह अब भी हिचकिचाते थे। अक्सर वह उन दिनों यह कहा करते थे कि माडरेटों के तरीक़ों से कुछ नहीं हो सकता, लेकिन साथ ही जबतक हिन्दू-मुस्लिम सवाल का हल नहीं मिलता, तबतक दूसरा कोई भी कारगर काम नहीं किया जा सकता। वह वादा करते थे कि अगर इसका हल मिल जाय, तो मैं आपमें से तेज़-से-तेज़ के साथ क़दम मिलाकर चलने को तैयार हूँ। हमारे ही घर में आल-इंडिया कांग्रेस कमिटी की मीटिंग में वह संयुक्त कांग्रेस-लीग-योजना बनी जिसे १९१६ ईसवी में कांग्रेस ने लखनऊ में मंजूर किया। इस बात से पिताजी बड़े खुश हुए, क्योंकि इससे सम्मिलित प्रयास का रास्ता खुल गया। उस समय वह माडरेट दल के अपने पुराने साथियों से बिगाड़ करके भी हमारे साथ चलने को तैयार थे। भारत-मंत्री की हैसियत से एडविन माटेग्यू ने हिन्दुस्तान में जो दौरा किया तबतक, और दौरे के दरम्यान, माडरेट और पिताजी साथ-साथ रहे। लेकिन मांटेग्यू-चैम्सफ़ोर्ड रिपोर्ट[1] के प्रकाशन के बाद तुरन्त ही मत-भेद शुरू हो गया। १९१८ में लखनऊ में सूबे की एक विशेष कान्फ्रेंस हुई। पिताजी इसके सभापति थे। इसीमें वह सदा के लिए माडरेटों से अलग हो गये। माडरेटों को डर था कि यह कान्फ्रेंस माण्टेग्यू-चेम्सफ़ोर्ड प्रस्तावों के ख़िलाफ़ कड़ा रुख अख़्तियार करेगी। इस-लिए उन्होंने उसका बायकाट कर दिया। इसके बाद इन प्रस्तावों पर विचार करने के लिए कांग्रेस का जो विशेष अधिवेशन हुआ उसका भी उन्होंने बायकाट किया। तबसे अबतक वे कांग्रेस के बाहर ही हैं।

माडरेटों ने जो ढंग अख़्तियार किया वह यह था कि वे कांग्रेस के अधिवेशनों तथा दूसरे आम जल्सों से चुपचाप अलग होकर दूर रहें,

---

१. 'कांग्रेस का इतिहास', प्रकाशक सस्ता साहित्य मंडल, दिल्ली, प्रकरण ४ देखिए। —अनु०

और बहुमत के खिलाफ़ होने पर वहाँ जाकर अपना दृष्टि-कोण भी न रखें और न उसके लिए लड़ें। यह ढंग बहुत ही भद्दा और अनुचित मालूम हुआ। मेरा ख़याल है कि देश में अधिकांश लोगों का यही आम ख़याल था और मुझे विश्वास है कि हिन्दुस्तान की राजनीति में माडरेटों का प्रभाव जो प्राय: सोलहों आने आता रहा, वह एक हद तक उनके इस डरपोकपन के कारण भी हुआ। मेरा खयाल है कि अकेले श्री शास्त्री ही एक ऐसे माडरेट नेता थे जो कांग्रेस के शुरू के उन कुछ जल्सों में भी शामिल हुए जिनका माडरेट दल नें बायकाट कर दिया था, और उन्होंने अपनें अकेले का दृष्टि-कोण वहाँ रक्खा।

लड़ाई के शुरू के सालों में मेरे अपने राजनैतिक और सार्वजनिक कार्य साधारण ही थे और मैं आम सभाओं में व्याख्यान देने से बचा रहा। अभी तक मुझे जनता में व्याख्यान देने में डर व झिझक मालूम होती थी। कुछ हद तक इसकी वजह यह भी थी कि मैं यह महसूस करता था कि सार्वजनिक व्याख्यान अंग्रेज़ी में तो होने नहीं चाहिएँ और हिन्दुस्तानी में देर तक बोलने की अपनी योग्यता में मुझे सन्देह था। मुझे वह छोटी-सी घटना याद है जो उस समय हुई जब मुझे इस बात के लिए मजबूर कर दिया गया कि मैं पहले-पहल इलाहाबाद में सार्वजनिक भाषण दूँ। सम्भवत: यह १९१५ में हुआ। तारीख़ के बारे में मैं ठीक-ठीक नहीं कह सकता। इसके अलावा पहले क्या हुआ और फिर क्या, यह तरतीब भी मुझे साफ़-साफ़ याद नहीं है। प्रेस का मुहँ बन्द करनेवाले एक क़ानून के विरोध में सभा होनेवाली थी और उसमें मुझे यह मौक़ा मिला था। मैं बहुत थोड़ा बोला, सो भी अंग्रेज़ी में। ज्योंही मीटिंग ख़तम हुई, मुझे इस बात से बड़ी सकुच हुई कि डॉक्टर तेजबहादुर सप्रू ने मंच पर पब्लिक के सामने मुझे छाती से लगाकर प्यार से चूमा। मैंने जो-कुछ या जिस तरह कहा उसपर वह खुश हुए हों सो बात नहीं। बल्कि उनकी इस बेहद खुशी का सबब सिर्फ यह था कि मैंने आम सभा में व्याख्यान दिया, और इस तरह सार्वजनिक कार्य के लिए एक नया रंगरूट मिल गया। उन दिनों सार्व-

जनिक काम दरअसल महज़ व्याख्यान देना ही था।

मुझे याद है कि उन दिनों हमें, इलाहाबाद के बहुत से नौजवानों को, यह भी आशा थी कि, मुमकिन है, डॉक्टर सप्रू राजनीति में कुछ आगे क़दम रखें। शहर में माडरेट दल के जितने लोग थे उन सबमें उन्हींसे इस बात की सबसे ज्यादा सम्भावना थी, क्योंकि वह भावुक थे और कभी-कभी मौक़े पर उत्साह की लहर में बह जाते थे। उनके मुक़ाबिले में पिताजी बहुत ठंडे मालूम पड़ते थे, हालाँकि उनकी इस बाहरी चादर के नीचे काफ़ी आग थी। लेकिन पिताजी की दृढ़ इच्छा-शक्ति के कारण हमें उनसे बहुत कम उम्मीद रह गयी थी, और कुछ वक्त के लिए हमें सचमुच डॉक्टर सप्रू से ज्यादा उम्मीदें थीं। इसमें तो कोई शक नहीं कि अपनी लम्बी सार्वजनिक सेवाओं के कारण पण्डित मदनमोहन मालवीय हमें अपनी तरफ़ खींचते थे और हमलोग उनसे देर-देर तक बातें करके तथा उनपर यह ज़ोर डालते थे कि वह ज़ोर के साथ मुल्क का नेतृत्व करें।

उस ज़माने में, घर में राजनैतिक सवाल चर्चा और बहस के लिए शान्तिमय विषय नहीं था। उनकी चर्चा अक्सर होती थी, लेकिन चर्चा होते ही तनातनी होने लगती थी। गरम दल की तरफ़ जो मेरा झुकाव था, उसे पिताजी बड़े ग़ौर से देख रहे थे; खास तौर पर बातूनी राज-नीति के बारे में मेरी नुक्ता-चीनियों को और कार्य के लिए की जाने-वाली मेरी हठीली माँग को। मुझे भी यह बात साफ़-साफ़ नहीं दिखायी देती थी कि क्या काम होना चाहिए, और पिताजी कभी-कभी ख़याल करते थे कि मैं सीधे उस हिंसात्मक काम की तरफ़ जा रहा हूँ जिसको बंगाल के नौजवानों ने अख़्तियार किया था। इससे वह बहुत ही चिन्तित रहते थे, जबकि दरअसल मेरा आकर्षण उस तरफ़ था नहीं। हाँ, यह ख़याल मुझे हर वक़्त घेरे रहता था कि हमें मौजूदा हालत को चुपचाप बरदाश्त नहीं करना चाहिए और कुछ-न-कुछ करना ज़रूर चाहिए। राष्ट्रीय दृष्टि से किसी काम को सफल करना बहुत आसान नहीं दिखायी देता था। लेकिन मैं यह महसूस करता था कि स्वाभिमान और स्वदेश-

भिमान दोनों ही यह चाहते हैं कि विदेशी हुकूमत के ख़िलाफ़ अधिक लड़ाकू और आक्रामक रवैया अख़्तियार किया जाय। पिताजी खुद माडरेटों की विचार-पद्धति से असन्तुष्ट थे और उनके मन के भीतर द्वन्द्व-युद्ध मच रहा था। वह इतने हठी थे कि जबतक इस बात का पूरा-पूरा विश्वास न हो जाय कि ऐसा करने के अलावा और कोई चारा नहीं, तबतक वह एक स्थिति को छोड़कर दूसरी को कभी नहीं अपनाते। आगे रखे जानेवाले हरेक कदम के मानी यह थे कि उनके मन में कठिन और कठोर द्वन्द्व हो, लेकिन अपने मन से इस तरह लड़ने के बाद जब वह कोई क़दम आगे रख देते थे तब फिर पीछे पैर नहीं हटाते थे। उन्होंने आगे जो क़दम बढ़ाया, वह किसी उत्साह के झोंके में नहीं, बल्कि बौद्धिक विश्वास के फलस्वरूप, और एक बार आगे क़दम रख देने के बाद उनका सारा अभिमान उन्हें पीछे मुड़कर देखने से भी रोकता था।

उनकी राजनीति में बाह्य परिवर्तन मिसेज़ बेसेण्ट की नज़रबन्दी के वक़्त से आया और तबसे वह क़दम-ब-क़दम आगे ही बढ़ते गये और अपने माडरेट दोस्तों को पीछे छोड़ते गये। अन्त में १९१९ में पंजाब में जो दुखान्त काण्ड हुआ उसने उन्हें हमेशा के लिए अपने पुराने जीवन और अपने पेशे से अलग काट फेंका, और उन्होंने गांधीजी के चलाये नये आन्दोलन के साथ अपने भाग्य की बागडोर बाँध दी।

लेकिन यह बात तो आगे जाकर होने को थी और १९१५ से १९१७ तक तो वह यह तय ही नहीं कर पाये कि क्या करना चाहिए। एक तो उनके अपने मन में तरह-तरह की शंकायें उठ रही थीं, दूसरे वह मेरी वजह से चिन्तित थे। इसलिए वह उन दिनों के सार्वजनिक प्रश्नों पर शान्तिपूर्वक बातचीत नहीं कर सकते थे। अक्सर यह होता था कि बातचीत में वह नाराज़ हो जाते और हमें बात जहाँ-की-तहाँ ख़तम कर देनी पड़ती।

मैं गांधीजी से पहले-पहल १९१६ में बड़े दिन की छुट्टियों में लखनऊ-कांग्रेस में मिला। दक्षिण अफ्रीका में उनकी बहादुराना लड़ाई के लिए हम सब लोग उनकी तारीफ़ करते थे, लेकिन हम नौजवानों में बहुतों को वह बहुत दूर और अलग तथा राजनीति से दूर व्यक्ति मालूम होते

थे। उन दिनों उन्होंने कांग्रेस या राष्ट्रीय राजनीति में भाग लेने से इन्कार कर दिया था, और अपनेको प्रवासी भारतीयों के मसले की सीमा तक बाँध रखा था। इसके बाद ही चम्पारन में निलहे गोरों के कारण होनेवाले किसानों के दुःख दूर करने में उन्होंने जैसा साहस दिखाया और उस मामले में उनकी जो जीत हुई, उससे हम लोग उत्साह से भर गये। हम लोगों ने देखा कि वह हिन्दुस्तान में भी अपने इस तरीक़े से काम लेने को तैयार हैं और उनसे सफलता की भी आशा होती थी।

लखनऊ-कांग्रेस के बाद उन दिनों इलाहाबाद में सरोजिनी नायडू ने जो कई बढ़िया भाषण दिये, उनसे भी, मुझे याद है, मेरा दिल हिल उठता था। वे भाषण शुरू से आखिर तक राष्ट्रीयता और देश-भक्ति से सराबोर होते थे और उन दिनों मैं विशुद्ध राष्ट्रीयता-वादी था। मेरे कालेज के दिनों के गोलगोल साम्यवादी भाव पीछे जा छिपे थे। १९१६ में रोजर केसमेन्ट[१] ने अपने मुक़दमे में जो आश्चर्यजनक भाषण दिया उसने हमें यह बताया कि गुलाम जातिवालों के भाव कैसे होने चाहिएँ? आयर्लैण्ड में ईस्टर के दिनों में जो बग़ावत हुई उसकी

१—रोजर केसमेंट एक समय ब्रिटिश सरकार के उपनिवेशों में उच्च पद पर था। दक्षिण अमेरिका के पुटुमायो में एंग्लो-पेरूवियन रबर कम्पनी ने वहांके निवासियों पर जो जुल्म किये थे उनकी जाँच करने के लिए १९१० में इसकी नियुक्ति की गयी थी और उसकी रिपोर्ट से बड़ी सनसनी फैली थी। इसके बाद यह ब्रिटिश साम्राज्य का कट्टर शत्रु बन गया। महायुद्ध में भाग लेने के लिए, उसने अपने आयरिश भाइयों से अनुरोध किया। नवंबर १९१४ में बर्लिन गया और वहां जर्मन सरकार के साथ ब्रिटिश के ख़िलाफ़ सुलह की। आयर्लैण्ड में १९१६ के ईस्टर सप्ताह में बलवे की तैयारी की बारह अप्रैल को जर्मनी से जहाज में गोला-बारूद भरकर आयर्लैंड के किनारे उतरा। जहाज और वह खुद दोनों पकड़े गये। 'राज्य के शत्रु' होने का इल्ज़ाम इसपर लगाया गया और तीन अगस्त को उसे फांसी की सज़ा दी गयी।

विफलता ने भी हमें अपनी तरफ़ खींचा; क्योंकि जो निश्चित विफलता पर हँसता हुआ संसार के सामने यह ऐलान करता है कि एक राष्ट्र की अजेय आत्मा को कोई भी शारीरिक शक्ति नहीं कुचल सकती वह सच्चा साहस नहीं था, तो क्या था?

उन दिनों ये ही मेरे भाव थे। परन्तु नयी किताबों के पढ़ने से मेरे दिमाग़ में साम्यवादी विचारों के अंगारे भी फिर जलने लगे थे। उन दिनों वे भाव अस्पष्ट थे। उतने वैज्ञानिक नहीं थे जितने दयापूर्ण और हवाई। युद्धकाल में तथा उसके बाद भी मुझे बर्ट्रेन्ड रसल[1] के लेख तथा ग्रंथ बहुत पसन्द आते थे।

इन विचारों और इच्छाओं से मेरे मन का भीतरी संघर्ष तथा अपने वकालत के पेशे के प्रति मेरा असन्तोष और भी बढ़ गया। यों मैं उसे चलाता रहा, क्योंकि उसके सिवा मैं करता भी क्या? लेकिन मैं अधिकाधिक यह महसूस करने लगा कि एक ओर ख़ास तौर पर आक्रामक ढंग का सार्वजनिक कार्य, जो मुझे पसन्द है, और दूसरी तरफ़ यह वकालत का पेशा, दोनों एक साथ निभ नहीं सकते। सवाल सिद्धान्त का नहीं, समय और शक्ति का था। न जाने क्यों कलकत्ता के नामी वकील सर रासबिहारी घोष मुझसे बहुत खुश थे। वह मुझे इस विषय में बहुत नेक सलाह दिया करते थे। ख़ासतौर पर उन्होंने मुझे यह सलाह दी कि मैं पसन्द के किसी क़ानूनी विषय पर एक किताब लिखूँ, क्योंकि उनका कहना था कि जूनियर वकील के लिए अपने को 'ट्रेन' करने का यही सबसे अच्छा रास्ता है। उन्होंने यह भी कहा कि इस किताब के लिखने में मैं तुम्हें विचारों की भी मदद दूँगा और उस किताब का संशोधन भी कर दूँगा। लेकिन मेरे वकीली जीवन में उनकी यह दिलचस्पी बेकार थी, क्योंकि मेरे लिए इससे ज्यादा अखरनेवाली और कोई चीज़ नहीं हो सकती थी कि मैं क़ानूनी किताब लिखने में अपना समय और शक्ति बरबाद करूँ।

---

१. लार्ड-पद छोड़कर समाजवाद का प्रचार करनेवाला अंग्रेज अध्यापक और समर्थ लेखक। महायुद्ध में युद्धनीतियों का विरोध करने के लिए इसने सजा भी पायी थी। अनु०

बुढ़ापे में सर रासबिहारी बहुत ही चिड़चिड़े हो गये थे। फ़ौरन ही उन्हें गुस्सा आ जाता था, जिससे उनके जूनियरों पर उनका बड़ा आतंक-सा रहता था। लेकिन मुझे वह फिर भी अच्छे लगते थे। उनकी कमियाँ और कमज़ोरियाँ भी बिलकुल अनाकर्षक नहीं मालूम होती थीं। एक दफ़ा मैं और पिताजी शिमला में उनके मेहमान थे। मेरा ख़याल है कि यह १९१८ की बात है, ठीक उस समय की जब माण्टेगू-चेम्सफोर्ड-रिपोर्ट छपकर आयी थी। उन्होंने एक दिन शाम को कुछ मित्रों को खाने के लिए बुलाया और उनमें खापर्डे साहब भी थे। खाना खाने के बाद सर रासबिहारी और खापर्डे आपस में ज़ोर-ज़ोर से बातें तथा एक दूसरे पर हमला करने लगे, क्योंकि वह राजनीति में भिन्न-भिन्न फिरकों के थे। सर रासबिहारी घुटे हुए माडरेट थे और खापर्डे उन दिनों प्रमुख तिलक-शिष्य माने जाते थे, यद्यपि पीछे जाकर वे कपोत की तरह कोमल और माडरेटों के लिए भी अत्यधिक माडरेट हो गये। खापर्डे ने गोखले की आलोचना शुरू की। कुछ साल पहले ही गोखले का देहान्त हो चुका था। खापर्डे कहने लगे कि गोखले ब्रिटिश सरकार के एजेण्ट थे और उन्होंने लन्दन में मेरे ऊपर भेदिये का काम किया। सर रासबिहारी इसे कैसे बरदास्त कर सकते थे? वह बिगड़कर बोले कि गोखले एक पुरुषोत्तम थे और मेरे ख़ास मित्र थे। मैं किसी को उनके ख़िलाफ एक भी शब्द नहीं कहने दूँगा। तब खापर्डे श्रीनिवास शास्त्री की बुराई करने लगे। सर रासबिहारी को यह भी अच्छा तो नहीं लगा लेकिन उन्होंने कोई नाराजगी नहीं दिखलायी। ज़ाहिर है कि वह शास्त्री के उतने प्रशंसक नहीं थे जितने गोखले के। यहाँतक कि उन्होंने यह कहा कि जबतक गोखले जीवित थे मैं रुपये-पैसे से भारत-सेवक-समिति की मदद करता था, लेकिन उनकी मौत के बाद मैंने रुपया देना बन्द कर दिया है। इसके बाद खापर्डे उनके मुकाबिले में तिलक की तारीफ़ करने लगे। बोले, "तिलक निस्सन्देह महापुरुष, एक आश्चर्यजनक पुरुष, महात्मा हैं।" "महात्मा!" रासबिहारी बोले—"मुझे महात्माओं से चिढ़ है। मैं उनसे कोई वास्ता नहीं रखना चाहता।"

: ६ :

हिमालय की एक घटना

मेरी शादी १९१६ में, दिल्ली में, वसन्त-पंचमी को हुई थी। उसी साल गरमी में हमने कुछ महीने कश्मीर में विताये। मैंने अपने परिवार को तो श्रीनगर की घाटी में छोड़ दिया, और अपने एक चचेरे भाई के साथ कई हफ्ते तक पहाड़ों में घूमता रहा, तथा लद्दाख रोड तक बढ़ता चला गया।

संसार के उच्च प्रदेश में उन संकीर्ण और निर्जन घाटियों में, जो कि तिब्बत के मैदान की तरफ़ ले जाती हैं, घूमने का यह मेरा पहला अनुभव था, ज़ोजी-ला घाटी की चोटी से हमने देखा तो हमारी एक तरफ़ नीचे की ओर पहाड़ों की घनी हरियाली थी, और दूसरी तरफ़ ख़ाली कड़ी शिला की चट्टान। हम उस घाटी की सँकड़ी तह के ऊपर चढ़ते चले गये, जिसके दोनों ओर पहाड़ हैं। एक तरफ़ बरफ़ से ढकी हुई चोटियाँ चमक रही थीं, और उनमें से छोटे-छोटे ग्लेश्यर—हिमसरोवर—हमसे मिलने के लिए, नीचे को रेंग रहे थे। हवा ठंडी और कटीली थी, लेकिन दिन में धूप अच्छी पड़ती थी और हवा इतनी साफ़ थी कि अक्सर हमें चीज़ों की दूरी के बारे में भ्रम हो जाता था। वे दरअसल जितनी दूर होती थीं, हम उन्हें उससे बहुत कम दूर समझते थे। धीरे-धीरे सूनापन बढ़ता गया, पेड़ों और वनस्पतियों तक ने हमारा साथ छोड़ दिया—सिर्फ़ नंगी चट्टान और बरफ़ और पाला और कभी-कभी कुछ खुशनुमा फूल रह गये। फिर भी प्रकृति के इन जंगली और सुनसान निवासों में मुझे अजीव सन्तोष मिला। मेरे उत्साह और उमंग का ठिकाना न था।

इस यात्रा में मुझे एक बड़ा दिल को कँपा देनेवाला अनुभव हुआ। ज़ोजी-ला घाटी से आगे सफ़र करते हुए एक जगह, जो मेरे ख़याल में मातायन कहलाती थी, हमसे कहा गया कि अमरनाथ की गुफा यहाँ से

सर्फ़ आठ मील दूर है। यह ठीक था कि बीच में बुरी तरह हिम व
रफ़ से ढका हुआ एक बड़ा पहाड़ पड़ता था, जिसे पार करना था।
लेकिन उससे क्या ? आठ मील होते ही क्या हैं ? जोश खूब था और
गुरबे नदारद। हमने अपने डेरे-तम्बू, जो ग्यारह हज़ार पांच सौ फ़ीट
की ऊँचाई पर थे, छोड़ दिये और एक छोटे-से दल के साथ पहाड़ पर
चढ़ने लगे। रास्ता दिखाने के लिए हमारे साथ वहाँ का एक गडरिया था।

हम लोगों ने रस्सियों के सहारे कई बरफ़ीली-नदियों को पार किया।
हमारी मुश्किलें बढ़ती गयीं तथा साँस लेने में भी कठिनाई मालूम होने
लगी। हमारे कुछ सामान उठानेवालों के मुहँ से खून निकलने लगा,
हालाँकि उनपर बहुत बोझ नहीं था। इधर बर्फ पड़ने लगी और बर्फ़ीली
नदियाँ भयानक रूप से रपटीली हो गयीं। हमलोग बुरी तरह थक गये
और एक-एक क़दम आगे बढ़ने के लिए ख़ास कोशिश करनी पड़ती थी।
लेकिन फिर भी हम यह मूर्खता करते ही गये। हमने अपना ख़ीमा सुबह
चार बजे छोड़ा था और बारह घंटे तक लगातार चढ़ते रहने के बाद
एक सुविशाल हिम-सरोवर देखने का पुरस्कार मिला। यह दृश्य बहुत ही
सुन्दर था। उसके चारों ओर बरफ़ से ढकी हुई पर्वत-चोटियाँ थीं।
मानों देवताओं का मुकुट अथवा अर्द्धचन्द्र हो। परन्तु ताज़ा बरफ़ और
कुहरे ने शीघ्र ही इस दृश्य को हमारी आँखों से ओझल कर दिया। पता
नहीं कि हम कितनी ऊँचाई पर थे, लेकिन मेरा ख़याल है कि हमलोग
कोई पन्द्रह-सोलह हज़ार फीट ऊँचाई पर ज़रूर होंगे; क्योंकि हम
अमरनाथ की गुफा से बहुत ऊँचे थे। अब हमें इस हिम-सरोवर को, जो
सम्भवत: आध मील लम्बा होगा, पार करके दूसरी तरफ नीचे गुफा
को जाना था। हमलोगों ने सोचा कि चढ़ाई खत्म होने से हमारी मुश्किलें
भी ख़त्म हो गयी होंगी, इसलिए बहुत थके होने पर भी हमलोगों ने
हँसते हुए यात्रा की यह मंजिल भी तय करनी शुरू की। इसमें बड़ा
धोखा था, क्योंकि वहाँ दरारें बहुत-सी थीं और ताज़ी गिरनेवाली बरफ़
ख़तरनाक दरारों को ढक देती थी। इस नये बर्फ़ ने ही मेरा क़रीब-
क़रीब ख़ात्मा कर दिया होता, क्योंकि मैंने ज्योंही उसके ऊपर पैर रखा,

वह नीचे को धसक गयी और मैं धम्म से एक विशाल दरार में, जो मुहँ बायें हुए थी, जा गिरा। यह दरार बहुत बड़ी थी और कोई भी चीज़ उसमें बिलकुल नीचे पहुँचकर हज़ारों वर्ष बाद तक भूगर्भशास्त्रियों की खोज के लिए इत्मीनान के साथ सुरक्षित रह सकती थी। लेकिन मेरे हाथ से रस्सी नहीं छूटी और मैं दरार की बाजू को पकड़े रहा और ऊपर खींच लिया गया। इस घटना से हमलोगों के होश तो ढीले हो गये थे, पर फिर भी हमलोग आगे चलते ही गये। लेकिन दरारों की तादाद और उनकी चौड़ाई आगे जाकर और भी बढ़ गयी। इनमें से कुछ को पार करने के कोई साधन भी हमारे पास न थे, इसलिए अन्त में हम लोग थके-माँदे हताश हो लौट आये और इस प्रकार अमरनाथ की गुफा अनदेखी ही रह गयी।

कश्मीर के पहाड़ों तथा ऊँची-ऊँची घाटियों ने मुझे ऐसा मुग्ध कर लिया कि मैंने एक बार फिर वहाँ जाने का संकल्प किया। मैंने कई योजनायें सोचीं, और कई यात्राओं के मनसूबे बाँधे और उनमें से एक के तो ख़याल ही से मेरी ख़ुशी का ठिकाना न रहा। वह थी तिब्बत की अलौकिक झील मानसरोवर और उसके पास का हिमाच्छादित कैलास। यह अठारह बरस पहले की बात है और मैं आज भी कैलास तथा मानसरोवर से उतना ही दूर हूँ जितना पहले था। मैं फिर कश्मीर न जा सका, हालाँकि वहाँ जाने की मेरी बहुत ख़्वाहिश रही। लेकिन मैं राजनीति और सार्वजनिक कामों के जंजाल में अधिकाधिक उलझता गया। पहाड़ों पर चढ़नें या समुद्रों को पार करने के बदले मेरी सैलानी तबीयत को जेलों में जाकर ही संतोष करना पड़ा। लेकिन अब भी मैं वहाँ जाने के मनसूबे गढ़ा करता हूँ क्योंकि वह तो एक ऐसे आनन्द की बात है जिसे कोई जेल में भी नहीं रोक सकता। और इसके अलावा जेल में ये स्कीमें सोचने के सिवा और कोई करे भी क्या? अतः मैं उस दिन का स्वप्न देख रहा हूँ जब मैं हिमालय पर चढ़कर उसे पार करूँगा और उस झील तथा कैलास के दर्शन करके अपना मनोरथ पूरा करूँगा। परन्तु इस बीच में जीवन की घड़ियाँ दौड़ती जा रही हैं, जवानी अधेड़पन में

तबदील हो रही है और कभी-कभी मैं यह सोचता हूँ कि मैं इतना बूढ़ा हो जाऊँगा कि कैलास और मानसरोवर जा ही न सकूँगा। परन्तु यद्यपि यात्रा का अन्त न भी दिखायी दे, तब भी यात्रा करने में हमेशा आनन्द ही मिलता है।

मेरे अन्तर्पट पर इन गिरि-शृंगों की पड़ती छाया-
सांध्य गुलाबों से रंजित है जिनकी भीषण दुर्गमता;
फिर भी मेरे प्राण मुग्ध पलकों पर बैठे अकुलाते,
शांत शुभ्र हिम के ये प्यासे, है कैसी पागल ममता ![1]

---

१. वाल्तर दि ला मेयर के एक पद्य का भावानुवाद। —अनु०

: ७ :

गांधीजी मैदान में

सत्याग्रह और अमृतसर

युरोपियन महायुद्ध के अन्त में हिन्दुस्तान में एक दवा हुआ जोश फैला हुआ था। कल-कारखाने जगह-जगह फैल गये थे और पूंजीवादी वर्ग धन और सत्ता में बढ़ गया था। चोटी पर के मुट्ठीभर लोग मालामाल हो गये थे और उनके जी इस बात के लिए ललचा रहे थे कि बचत की इस दौलत को और भी बढ़ाने के लिए सत्ता और मौक़े मिलें। मगर आम लोग इतने खुशक़िस्मत न थे और वे उस बोझे को कम करने की टोह में थे कि जिसके तले वे कुचले जा रहे थे। मध्यम वर्ग के लोगों में यह आशा फैल रही थी कि अब शासन-सुधार होंगे ही, जिनसे स्वराज के कुछ अधिकार मिलेंगे और उसके द्वारा उन्हें अपनी बढ़ती के नये रास्ते मिलेंगे। राजनैतिक आन्दोलन, जोकि शांतिमय और बिलकुल वैध था, कामयाब होता हुआ दिखायी देता था और लोग विश्वास के साथ आत्म-निर्णय और स्वशासन और स्वराज की बातें करते थे। इस अशान्ति के कुछ आसार जनता में भी, और खासकर किसानों में भी, दिखायी पड़ते थे, पंजाब के देहाती इलाक़ों में ज़बरदस्ती रंगरूट भर्त्ती करने की दुःखदायी बातें लोग अभी तक बुरी तरह याद करते थे और कोमागाटा-मारू[1] वाले तथा दूसरे लोगों पर षड़यन्त्र के

---

१. कोमा-गाटा-मारूवाली घटना थोडे में इस प्रकार हैः—कनाडा में एक ऐसा क़ानून पास हुआ कि सिवा उन लोगों के जो ठेठ कनाडा तक एक ही जहाज़ में सीधे यात्रा करें, दूसरे किसीको कनाडा में न उत्तरने दिया जाय। कनाडा से हिन्दुस्तान तक सीधा एक भी जहाज़ नहीं आता। कनाडा में कई सिक्ख जा बसे हैं। अतएव उनके लिए इस क़ानून का यह अर्थ हुआ कि वहाँ बस जानेवाले कोई भी सिक्ख जो

दमे चलाकर जो दमन किया गया था उसने उनकी चारों ओर फैली नाराज़गी को और भी बढ़ा दिया। जगह-जगह लड़ाई के मैदानों जो सिपाही लौटे थे वे अब पहले जैसे 'जो हुकुम' नहीं रह गये थे। की जानकारी और अनुभव बढ़ गया था और उनमें भी बहुत शान्ति थी।

मुसलमानों में भी, तुर्किस्तान और खिलाफ़त के मसले पर जैसा रुख़ ख़्तियार किया गया उसपर गुस्सा बढ़ रहा था और आन्दोलन तेज़ हो रहा था। तुर्किस्तान के साथ सुलहनामे पर अभी दस्तख़त नहीं हो चुके, मगर ऐसा मालूम होता था कि कुछ बुरा होनेवाला है, सो जहाँ एक र वे आन्दोलन कर रहे थे वहाँ दूसरी ओर इन्तज़ार भी कर रहे थे। रे देशभर में इन्तज़ार और आशा की हवा ज़ोरों पर थी, लेकिन स आशा में चिन्ता और भय समाये हुए थे। इसके बाद रौलट-बिल ा दौर हुआ, जिसमें क़ानूनी कार्रवाई के बिना भी गिरफ्तार करने र सज़ा देने की धारायें रक्खी गयी थीं। सारे हिन्दुस्तान में चारों ओर ठे हुए क्रोध की लहर ने उनका स्वागत किया था। यहाँ तक कि

हाँ थोड़े दिन के लिए आये हों, वापस कनाडा नहीं जा सकते, न कनाडा-स्थित कोई सिक्ख हिन्दुस्तान से अपने कुटुम्बियों को ही ले जा सकते । इस चुनौती का जवाब देने के लिए १९१५ में बाबा गुरुदत्त सिंह ने कोमागाटा-मारू' नामक एक ठेठ कनाडा जानेवाला जहाज़ किराये किया और ६०० सिक्खों को उसमें वहाँ ले गये। इन्हें वहाँ उतरने नहीं दिया गया। वापस लौटते हुए उन्हें कलकत्ते में बजबज स्टेशन पर उतरकर सीधा पंजाब जाने का हुक्म मिला। इस हुक्म को भंग किया गया और इससे बलवा पैदा हुआ; गोलियाँ चलायी गयीं, कितने ही मारे गये, कइयों पर राजद्रोह और षड्यन्त्र के मुक़दमे चले। बाबा गुरुदत्त सिंह वहाँ से भाग निकले और छुपे रहे। १९२१ तक वे इधर-उधर घूमते रहे, फिर गांधीजी से भेंट हुई और उनकी सलाह के अनुसार खुद अपनेको गिरफ्तार करा दिया। १९२२ में वह लाहौर जेल से छूटे। —अनु०

माडरेट लोगों ने भी अपनी पूरी ताक़त से उसका विरोध किया था और सच तो यह है कि हिन्दुस्तान के सब विचार और दल के लोगों एक स्वर से उसका विरोध किया था। फिर भी सरकारी अफ़सरों उनको क़ानून[1] बनवा ही डाला। और खास रिआयत सच पूछो तो की गयी कि उनकी मियाद महज़ तीन वर्ष की रख दी गयी !

पन्द्रह बरस पहले इस बिल के ज़माने पर और इसकी बदौलत हलचल मची उसपर ज़रा निगाह दौड़ाना यहाँ उपयोगी होगा। रौल क़ानून बन तो गया, मगर, जहाँ तक मैं जानता हूँ, अपनी तीन वर्ष जिन्दगी में वह कभी काम में नहीं लाया गया हालाँकि वे तीन सा शान्ति के नहीं, ऐसे उपद्रव के साल थे, जो १८५७ के ग़दर के ब हिन्दुस्तान ने पहले-पहल देखे थे। इस तरह ब्रिटिश सरकार ने लोक के घोर विरोधी होते हुए एक ऐसा क़ानून बनाया, जिसका उसने कु उपयोग भी नहीं किया और बदले में एक तूफ़ान पैदा कर दिया। इस यह बहुत-कुछ खयाल किया जा सकता है कि इस क़ानून को बनाने उद्देश सिर्फ़ खलबली मचाना था।

एक और मज़ेदार बात सुनिए। आज पंद्रह साल के बाद ऐसे कि ही क़ानून बन गये हैं जो रोज-ब-रोज़ बरते भी जाते हैं और जो रौल बिल से भी ज्यादा सख्त हैं। इन नये क़ानूनों और आर्डिनेन्सों के मुक़ाबि में, जिनके मातहत हम आज ब्रिटिश हुकूमत की नियामत का आन लूट रहे हैं, रौलट-बिल तो आज़ादी का परवाना समझा जा सकता है हाँ, एक फ़र्क़ ज़रूर है। १९१९ से हमें मॉन्टेगु-चैम्सफोर्ड-योजना नाम स्वराज की एक क़िस्त मिल चुकी है और अब, सुनते हैं, एक बड़ी क़ि और मिलनेवाली है। हम तरक़्क़ी जो कर रहे हैं।

१९१९ के शुरू में गांधीजी एक सख्त बीमारी से उठे थे। रो शय्या से उठते ही उन्होंने वाइसराय से प्रार्थना की थी कि वह इस बि

---

[1]. एक बिल वापिस लिया गया और दूसरा बिल पास होक क़ानून बना। —अनु०

को क़ानून न बनने दें। इस अपील की उन्होंने, दूसरी अपीलों की तरह कोई परवा न की और उस हालत में, गांधीजी को अपनी तबियत के खिलाफ़ इस आन्दोलन का अगुआ बनना पड़ा, जो उनके जीवन में पहला भारत-व्यापी आन्दोलन था। उन्होंने सत्याग्रह-सभा शुरू की, जिसके मेम्बरों से यह प्रतिज्ञा करायी गयी थी कि उनपर लागू किये जाने पर वे रौलट-क़ानून को न मानेंगे। दूसरे शब्दों में उन्हें खुल्लम-खुल्ला और जान-बूझकर जेल जाने की तैयारी करनी थी।

जब मैंने अखबारों में यह खबर पढ़ी तो मुझे बड़ी तसल्ली हुई। आखिर इस उलझन से एक रास्ता मिला तो। वार करने के लिए एक हथियार तो मिला जो सीधा, खुला और बहुत करके राम-बाण था। मेरे उत्साह का पार न रहा और मैं फ़ौरन ही सत्याग्रह-सभा में सम्मिलित होना चाहता था। लेकिन मैंने उसके नतीजे पर—कानून तोड़ना, जेल जाना वग़ैरा पर—शायद ही ग़ौर किया हो और अगर मैंने ग़ौर किया भी होता तो मुझे उनकी परवा न होती। मगर एकाएक मेरे सारे उत्साह पर पाला पड़ गया और मैंने समझ लिया कि मेरा रास्ता आसान नहीं है, क्योंकि पिताजी इस नये ख़याल के घोर विरोधी थे। वह नये-नये प्रस्तावों के बहाव में बह जानेवाले न थे। कोई नया क़दम आगे बढ़ाने के पहले वह उसके नतीजे को बहुत अच्छी तरह सोच लिया करते थे और जितना ही ज्यादा उन्होंने सत्याग्रह के प्रश्न और उसके प्रोग्राम के बारे में सोचा उतना ही कम वह उन्हें जँचा। थोड़े-से लोगों के जेल जाने से क्या फ़ायदा होगा? उससे सरकार पर क्या असर होगा और क्या दबाव पड़ेगा? इन आम बातों के अलावा असल बात तो थी हमारा ज़ाती सवाल। उन्हें यह बात बहुत बेहूदा दिखायी देती थी कि मैं जेल जाऊँ। जेल जाने का सिलसिला अभी पड़ा नहीं था और यह ख़याल ही उनको बहुत नागवार मालूम होता था। पिताजी अपने बच्चों से बहुत ही मुहब्बत रखते थे। यद्यपि वह प्रेम का दिखावा नहीं करते थे, तो भी उनके अन्दर प्रेम बहुत छिपा रहता था।

बहुत दिनों तक मानसिक संघर्ष चलता रहा और चूँकि हम दोनों

जानते थे कि यह बड़ी-बड़ी बाजियाँ लगाने का सवाल है, जिसमें हमारे सारे जीवन में बड़ी उथल-पुथल होने की सम्भावना है, दोनों ने इस बात की कोशिश की कि जहाँतक हो सके एक दूसरे की भावनाओं और बातों का ख़याल रक्खें। मैं चाहता था कि जहाँतक हो सके कोशिश करूँ कि उनको तकलीफ न उठानी पड़ें। मगर मुझे अपने दिल में यक़ीन हो गया था कि मुझे जाना तो सत्याग्रह के ही रास्ते है। हम दोनों के लिए वह मुसीबत का समय था और कई रातें मैंने अकेले बड़ी चिन्ता और बेचैनी में काटीं। मैं सोचता रहता कि इसमें से कोई रास्ता निकले। बाद को मुझे मालूम हुआ कि पिताजी रात को सचमुच फर्श पर सोकर खुद यह अनुभव कर लेना चाहते थे कि जेल में मेरी क्या गति होगी, क्योंकि उनके ख़याल में मुझे आगे-पीछे जेल ज़रूर जाना पड़ेगा।

पिताजी ने गांधीजी को बुलाया और वह इलाहाबाद आये। दोनों की बड़ी देर तक बातें होती रहीं। उस समय मैं मौजूद न था। इसका नतीजा यह हुआ कि गांधीजी ने मुझे सलाह दी कि जल्दी न करो और ऐसा काम न करो जो पिताजी को नागवार हो। मुझे इससे दुख ही हुआ; मगर उसी समय देश म ऐसी घटनायें घट गयीं जिनसे सारी हालत ही बदल गयी, और सत्याग्रह-सभा ने अपनी कार्रवाई बन्द कर दी।

सत्याग्रह-दिवस—सारे हिन्दुस्तान में हड़तालें और तमाम काम-काज बन्द—दिल्ली अमृतसर और अहमदाबाद में पुलिस और फौज का गोली चलाना और बहुत से आदमियों का मारा जाना—अमृतसर और अहमदाबाद में भीड़ के द्वारा हिंसा-काण्ड हो जाना—जालियाँवाला-बाग़ का हत्या-काण्ड—पंजाब में फौजी क़ानून के भीषण अपमानजनक और जी दहलानेवाले कारनामे। पंजाब मानो दूसरे प्रांतों से अलग काट दिया गया हो, उसपर मानो एक गहरा परदा पड़ गया था जिससे बाहरी दुनिया की आँखें उसतक नहीं पहुँच पाती थीं। वहाँसे मुश्किल से कोई खबर मिलती थी, और कोई वहाँ न जा सकता था, न वहाँ से आ ही सकता था।

कोई इक्का-दुक्का जो किसी तरह उस नरक-कुंड से बाहर आ

नता था, तो वह इतना भयभीत हो जाता था कि साफ़-साफ़ हाल
ां बता सकता था। हमलोग जो कि बाहर थे, असहाय और असमर्थ
छोटी-बड़ी खबर का इन्तजार करते रहते थे और हमारे दिल में
ता भरती जा रही थी। हममें से कुछ लोग फ़ौजी क़ानून की परवा
करके खुल्लमखुल्ला पंजाब के उन हिस्सों में जाना चाहते थे, लेकिन
ऐसा नहीं करने दिया गया और इस दर्मियान कांग्रेस की तरफ से
तयों और पीड़ितों को सहायता पहुँचाने तथा जाँच करने के लिए एक
ा संगठन बनाया गया।

ज्योंही खास-खास जगहों से फ़ौजी क़ानून वापस लिया गया और
हरवालों को जाने की छुट्टी मिली, मुख्य-मुख्य कांग्रेसी और दूसरे
ग पंजाब में जा पहुँचे और सहायता तथा जाँच[1] के काम में अपनी
ायें अर्पित कीं। पीड़ितों की सहायता का काम मुख्यतः पण्डित
नमोहन मालवीय और स्वामी श्रद्धानन्दजी की देखभाल में होता था
र जाँच का काम मुख्यतः पिताजी और देशबन्धु दास की देख-
ल में। गांधीजी उसमें बहुत दिलचस्पी ले रहे थे और दूसरे लोग
अक्सर उनसे सलाह-मशवरा लिया करते थे। देशबन्धु दास ने अमृतसर
ा हिस्सा खास तौर पर अपनी तरफ़ लिया और वहाँ मैं उनके साथ
नकी सहायता के लिए तैनात किया गया। मुझे वह पहला मौक़ा था
नके साथ और उनके नीचे काम करने का। वह अनुभव मेरे लिए
ड़ा कीमती था और इससे उनके प्रति मेरा आदर बढ़ा। जालियाँवाला-

---

[1]. सरकार-नियुक्त हण्टर-कमेटी से असहयोग क्यों किया गया,
सका हाल 'कांग्रेस इतिहास' में पढ़िए। इसके बाद कांग्रेस ने खुद
अपनी जाँच-कमिटी बैठायी। कमिटी के सदस्य थे—गांधीजी, पंडित
ोतीलालजी, देशबन्धु दास, अब्बास तैयबजी, फ़जलुलहक़ और श्री
स्तानन्द। पं० मोतीलालजी अमृतसर महासभा के सभापति चुने गये।
ाद श्री जयकर ने कमिटी में उनका स्थान लिया। कमिटी की रिपोर्ट
का सारा मसविदा गांधीजी ने बनाया था। —अनु०

बाग़ से और उस भयंकर गली से जिसमें लोगों को पेट के बल रेंगा
गया था, सम्बन्ध रखनेवाले बयान, जो बाद को कांग्रेस-जाँच-रि
में छपे थे, हमारे सामने लिये गये थे। हमने कई बार खुद जाकर ज
बाग़ को देखा था और उसकी हर चीज़ की जाँच बड़े ग़ौर से की थी

यह कहा गया था, मैं समझता हूँ, मि० एडवर्ड थामसन के द्वा
कि जनरल डायर का यह ख़याल था कि बाग़ से निकलने के दूस
दरवाज़े भी थे और यही कारण है जो उसने इतनी देर तक गोलि
जारी रक्खीं। यदि डायर का यही ख़याल था और दरअसल उस
दरवाजा रहा होता, तो भी इससे उसकी ज़िम्मेदारी कम नहीं हो जाती
मगर यह ताज्जुब की बात मालूम होती है कि उसे ऐसा ख़याल रहा
कोई शख़्स इतनी ऊँची जगह पर खड़ा होकर, जहाँ कि वह खड़ा थ
उस सारी जगह को अच्छी तरह देख सकता था कि वह किस तर
चारों ओर से बड़े ऊँचे-ऊँचे मकानों से घिरी हुई और बन्द है। सि
एक तरफ़ कोई सौ फ़ीट के क़रीब कोई मकान न था, महज़ पाँच फ़
ऊँची दीवार थी। गोलियाँ तड़ा-तड़ चल रही थीं और लोग चट-प
मर रहे थे। जब उन्हें कोई रास्ता नहीं सूझ पड़ा तो हज़ारों आदमी उ
दीवार की ओर झपटे और उसपर चढ़ने की कोशिश करने लगे। त
गोलियाँ उस दीवार की ओर निशाना लगाकर चलायी गयीं—जैसा
हमारे बयानात तथा दीवार पर लगे गोलियों के निशानात से मालू
होता है—ताकि कोई उसपर से चढ़कर भाग न सके। और जब य
सब ख़तम हो चुका, तो क्या देखा गया कि मुर्दों और घायलों के ढे
दीवार के दोनों ओर पड़े हुए थे।

उस साल (१९१९) के अख़ीर में मैं अमृतसर से देहली को रात क
गाड़ी से रवाना हुआ था। जिस डिब्बे में मैं चढ़ा उसकी तमाम जगहें भ
हुई थीं, सिर्फ़ ऊपर एक 'बर्थ' ख़ाली थी। सब मुसाफ़िर सो रहे थे
मैंने उस ख़ाली बर्थ को ले लिया। दूसरे दिन सुबह मुझे मालूम हुआ
वे तमाम मुसाफ़िर फ़ौजी अफ़सर थे। वे आपस में ज़ोर-ज़ोर से बा
कर रहे थे, जो मेरे कानों तक आ ही पहुँचती थीं। उनमें से एक बड़

के साथ, मगर विजय के घमण्ड में, बोल रहा था और फ़ौरन ही मैं न गया कि यह वही जालियाँवाला-बाग़ के 'बहादुर' मि० डायर हैं। अपने अमृतसर के अनुभव सुना रहा था। उसने बताया कि कैसे सारा र उसकी दया के भरोसे हो रहा था। उसने सोचा, एक बार इस वाग़ी शहर को खाक में मिला दूँ। मगर कहा, कि फिर मुझे रहम गया और मैं रुक गया। हण्टर-कमिटी में अपना बयान देकर वह हौर से वापस आ रहा था। उसकी बातचीत और उसकी संगदिली देखकर मेरे दिल को बड़ा धक्का लगा--वह देहली स्टेशन पर उतरा गहरी गुलाबी धारियोंवाला पायजामा और ड्रेसिंग-गाउन पहने हुए था।

पंजाब-जाँच के ज़माने में मुझे गांधीजी को बहुत-कुछ समझने का क़ा मिला। बहुत बार उनके प्रस्ताव कमिटी को अजीब मालूम होते और कमिटी उन्हें पसन्द नहीं करती थी। मगर क़रीब-क़रीब हमेशा नी दलीलों से कमिटी को वह समझा लिया करते थे और कमिटी हें मंजूर कर लिया करती थी। और बाद की घटनाओं से मालूम ा कि उनकी सलाह में दूरंदेशी थी। तबसे उनकी राजनैतिक अंतर्दृष्टि मेरी श्रद्धा बढ़ती गयी।

पंजाब की दुर्घटनाओं और उनकी जाँच के कार्य का मेरे पिताजी पर बरदस्त असर हुआ। उनकी तमाम क़ानूनी और वैधानिक बुनियाद सके द्वारा हिल गयी थी और उनका मन उस परिवर्तन के लिए धीरे-रे तैयार हो रहा था, जो एक साल बाद आने वाला था। अपनी ानी माडरेट स्थिति से वह पहले ही बहुत-कुछ आगे बढ़ चुके थे। उन नों इलाहाबाद से नरम दल का अखबार 'लीडर' निकल रहा था, ससे उनको संतोष नहीं था और उन्होंने १९१९ में 'इण्डिपेण्डेण्ट' नाम ा दैनिक पत्र इलाहाबाद से निकाला। यों तो इस अखबार को बड़ी सफलता मिली, लेकिन शुरू से ही उसमें एक बात की बड़ी कमी रही। सका प्रबन्ध अच्छा नहीं था। उससे सम्बन्ध रखनेवाले सभी--क्या ाइरेक्टर, क्या सम्पादक और क्या प्रबन्ध-विभाग के लोगों--पर इस मी की जिम्मेदारी आती है। मैं खुद भी एक डाइरेक्टर था, मगर इस

काम का मुझे कुछ भी तजुरबा न था। और उसके झगड़े-झगड़ों की चिन्ता से मैं दिन-रात परेशान रहता था मुझे और पिताजी दोनों को जाँच के सिलसिले में पंजाब जाना और ठहरना पड़ा था। हमारी अनु-ग़ैरहाज़िरी में पत्र की हालत बहुत गिर गयी और उसकी माली हालत भी बहुत बिगड़ गयी। उस हालत से वह कभी उभर न सका। हालाँकि १९२०–२१ में उसकी हालत बीच-बीच में कुछ बेहतर हो जाती थी लेकिन ज्यों ही हम जेल गये उसकी हालत अवतर होने लगी। आख़िर १९२३ के शुरू में उसकी ज़िन्दगी ख़तम हो गयी। अख़बार के मालिक बनने के इस अनुभव ने मुझे इतना भयभीत कर दिया कि उसके बाद से मैंने किसी अख़बार का डाइरेक्टर बनने की ज़िम्मेदारी नहीं ली। हाँ, जेल में तथा बाहर और-और कामों में लगे रहने के कारण ही मैं ऐसा न कर सकता था।

१९१९ के बड़े दिनों में पिताजी अमृतसर-कांग्रेस के सभापति हुए। उन्होंने माडरेट नेताओं के नाम एक दिल हिला देनेवाली अपील की कि वे अमृतसर के अधिवेशन में शामिल हों। चूँकि फ़ौजी-क़ानून की वजह से एक नयी हालत पैदा हो गयी थी, उन्होंने लिखा—'पंजाब का ज़ख्मी और पीड़ित दिल आपको बुला रहा है। क्या आप उसकी पुकार न सुनेंगे?' मगर उन्होंने उसका वैसा जवाब नहीं दिया जैसा कि वह चाहते थे। वे लोग शामिल नहीं हुए। उनकी आँखें उन नये सुधारों की ओर लगी हुई थीं जो माण्टेगु-चैम्सफोर्ड सिफ़ारिशों के फल-स्वरूप आने वाले थे। उनके इनकार कर देने से पिताजी के दिल को बड़ा सदमा पहुँचा और इससे उनके और माडरेटों के दिल की खाई और चौड़ी हो गयी।

अमृतसर-कांग्रेस पहली गांधी-कांग्रेस हुई। लोकमान्य तिलक भी आये थे और उन्होंने उसकी कार्रवाई में प्रमुख भाग लिया था। मगर इसमें कुछ शक नहीं कि प्रतिनिधियों में अधिकांश और इससे भी ज्यादा बाहर की भीड़ में ज्यादातर लोग अगुवा बनने लिए गांधीजी की ओर देख रहे थे। हिन्दुस्तान के राजनैतिक क्षितिज में 'महात्मा गांधी की

यकी आवाज़ बुलन्द हो रही थी। अली-बन्धु हाल ही नज़रबन्दी छूटे थे और सीधे अमृतसर-कांग्रेस में आये थे। राष्ट्रीय आन्दोलन क नया रूप धारण कर रहा था और उसकी नयी नीति निर्माण हो ही थी।

शीघ्र ही मौलाना मुहम्मदअली ख़िलाफ़त-डेपूटेशन में यूरप चले ये। इधर हिन्दुस्तान में ख़िलाफ़त-कमिटी दिन-पर-दिन गांधीजी के सर में आने लगी और उसके अहिंसात्मक असहयोग के विचारों से ता जोड़ने की फ़िराक़ में थी। दिल्ली में जनवरी १९२० में ख़िलाफ़त नेताओं और मौलवियों और उलेमाओं की एक शुरु-शुरु की मीटिंग मुझे ाद है। ख़िलाफ़त-डेपूटेशन वाइसराय से मिलने जानेवाला था और ांधीजी भी साथ जानेवाले थे। उनके देहली पहुँचने के पहले, जो एड्रेस ाइसराय को दिया जानेवाला था, उसका मसविदा उन्हें रिवाज के ताबिक़ भेजा जा चुका था। जब गांधीजी पहुँचे और उन्होंने उसका ज़मून पढ़ा, तो उसे नापसन्द किया और यह भी कहा कि अगर इसमें ुछ-कुछ रद्दोबदल नहीं किया गया, तो मैं डेपूटेशन में शरीक न हो ऊँगा। उनका ऐतराज़ यह था कि इस मज़मून में गोल-मोल बातें कही यी हैं। इसमें शब्द तो बहुत हैं, मगर यह साफ़ तौर पर नहीं कहा गया के मुसल्मानों की कम-से-कम माँगें क्या हैं। उन्होंने कहा कि इससे न ो बादशाह के साथ इन्साफ़ होता है और न ब्रिटिश-सरकार के साथ; ा लोगों के साथ, न अपने साथ। उन्हें बढ़ी-चढ़ी माँगें पेश न करनी ाहिएं जिनपर वे अड़ना न चाहते हों। मगर छोटी-से-छोटी माँग बिल्कुल साफ़ शब्दों में हो, जिसमें किसी प्रकार शक-शुबह न हो और फिर मरने तक उसपर डटे रहो। अगर आप लोग सचमुच कुछ किया चाहते हो तो यही सच्चा और सही राजमार्ग है।

यह दलील हिन्दुस्तान के राजनैतिक और दूसरे हल्कों में एक नयी चीज़ थी। हम लोग बढ़ी-चढ़ी और गोल-मोल बातें और लच्छेदार भाषा के आदी थे और दिमाग़ में हमेशा सौदा करने की तजवीज़ें चला करती थी। आख़िर गांधीजी की बात क़ायम रही और उन्होंने वाइसराय के

प्राइवेट-सेक्रेटरी को पत्र लिखा, जिसमें बताया कि पिछले मज़मून में क्या खामियाँ है और वह किस तरह गोल-मोल है और कुछ नया मज़मून भी अपनी तरफ़ से भेजा जो उसमें जोड़ा जानेवाला था। इसमें उन्होंने कम-से-कम माँग पेश की थी। वाइसराय का जवाब दिलचस्प था। उन्होंने नये मज़मून का जोड़ा जाना मंजूर नहीं किया और कहा कि मेरी राय में पहला मज़मून ही बिलकुल ठीक है। गांधीजी ने सोचा कि इस चिट्ठी-पत्री से उनकी और खिलाफ़त कमिटी की स्थिति साफ़ हो जाती है और वह डैपुटेशन के साथ चले गये।

यह ज़ाहिर था कि सरकार खिलाफ़त-कमिटी की माँगें मंजूर नहीं करेगी और लड़ाई छिड़े बिना न रहेगी। अब मौलवियों और उलेमाओं में देर-देर तक बातें होती रहती। अहिंसात्मक असहयोग पर और खास कर अहिंसा पर चर्चा होती रहती। गांधीजी ने उनसे कह दिया कि मैं अगुवा बनने के लिए तैयार हूँ, मगर शर्त यह है कि आप लोग अहिंसा को उसके पूरे मानी में अपना लें। इसके बारे में कोई कमज़ोरी, लाग-लपट और छिपावट मन में न होनी चाहिए। मौलवियों के लिए इस चीज़ को मान लेना आसान न था। लेकिन वे रज़ामन्द हो गये। हाँ, उन्होंने यह अलबत्ता साफ़ कर दिया कि वे इसे धर्म के तौर पर नहीं बल्कि तात्कालिक नीति के तौर पर मानेंगे; क्योंकि हमारे मज़हब में नेक काम के लिए तलवार उठाना मना नहीं है।

१९२० में राजनैजिक और खिलाफ़त-आन्दोलन दोनों एक ही दिशा में और एकसाथ चले और कांग्रेस के द्वारा गांधीजी के अहिंसात्मक असहयोग के मंजूर कर लिये जाने पर आखिर दोनों एकसाथ मिल गये। पहले खिलाफ़त कमिटी ने उस कार्य-क्रम को अपनाया और १ अगस्त लड़ाई जारी करने का दिन मुक़र्रर हुआ।

उस साल के शुरू में मुसलमानों की मीटिंग (मैं समझता हूँ कि मुस्लिम-लीग की कौंसिल होगी) इलाहाबाद में सैयद रज़ाअली के मकान में इस कार्य-क्रम पर विचार करने के लिए हुई। मौलाना मुहम्मदअली तो यूरप थे, मगर मौलाना शौक़तअली उसमें मौजूद थे। मुझे उस सभा

याद है, क्योंकि मैं उससे बहुत नाउम्मीद हुआ था। हाँ, शौक़तअली
ब्बत्ता उत्साह में थे; बाक़ी सब लोग दुःखी और परेशान थे। उनमें
हिम्मत न थी कि वे उसको नामंजूर कर दें, किन्तु फिर भी उनका
रादा किसी ख़तरे में पड़ने का न था। मैंने दिल में कहा—क्या यही
एक क्रांतिकारी आन्दोलन के अगुवा होंगे और ब्रिटिश सल्तनत को
नौती देंगे? गांधीजी ने एक भाषण दिया, जिसे सुनकर, ऐसा मालूम
ता था कि, वे पहले से भी ज्यादा घबरा गये। उन्होंने, जैसे कोई
क्टेटर हों, बहुत अच्छा भाषण दिया। उसमें नम्रता थी, मगर साथ
हीरे की तरह स्पष्टता और कठोरता भी। उसकी भाषा सुहावनी और
ठी थी, जिसमें कठोर निश्चय और अज़हद सरगमी भरी हुई थी,
नकी आँखों में मृदुलता और शान्ति थी, मगर उनमें से ज़बरदस्त
र्य-शक्ति और दृढ़ निश्चय की लौ निकल रही थी। उन्होंने कहा कि
मुक़ाबिला बड़ा ज़बरदस्त होगा और सामना भी बड़े ज़बरदस्त से है।
गर आप लड़ना ही चाहते हैं तो आपको अपना सब-कुछ बर्बाद करने
लिए तैयार हो जाना चाहिए और कड़ाई के साथ अहिंसा और
नुशासन का पालन करना चाहिए। जब लड़ाई का ऐलान कर दिया
ता है, तो फ़ौजी कानून का दौर हो जाता है। हमारे अहिंसात्मक युद्ध
भी हमें अपनी तरफ़ से डिक्टेटर बनाने होंगे और फ़ौजी क़ानून जारी
रने होंगे, यदि हम चाहते हों कि हमारी फ़तह हो। आपको यह हक़
कि आप मुझे ठोकर मार कर निकाल दें, मेरा सिर उतार लें, और
ब कभी और जैसी चाहे सज़ा दे दें। लेकिन जबतक आप मुझे अपना
गुआ मानते हैं, तबतक आपको मेरी शर्तों का पाबन्द ज़रूर रहना
गा, आपको डिक्टेटर की राय पर चलना होगा और फ़ौजी क़ानून के
ब्ज़ान में रहना होगा। लेकिन डिक्टेटर बना रहना बिलकुल आपके
द्भाव, आपकी मंजूरी और आपके सहयोग पर अवलम्बित रहेगा।
यों ही आप मुझसे उकता जायें, त्यों ही आप मुझे उठाकर फेंक दें, पैरों
से रौंद दें और मैं चूँ तक न करूँगा।

इस आशय की कुछ बातें उन्होंने कहीं और यह फ़ौजी मिसाल और

उनकी जबरदस्त सरगर्मी देखकर वहाँ बहुत से श्रोताओं के बदन
चींटियाँ रेंगने लगीं। मगर शौकतअली वहाँ मौजूद थे, जो अक्सर
लोगों में जोश भरा करते थे। और जब रायें लेने का समय आया
उनमें से बहुतों ने चुपचाप, मगर झेंपते हुए, उस प्रस्ताव के, यानी
लड़ाई शुरू करने के हक़ में हाथ ऊँचे कर दिये।

जब हम सभा से लौट रहे थे, तो मैंने गांधीजी से पूछा कि क्या
इसी तरीक़े से आप एक महान् युद्ध को शुरू करेंगे? मैंने तो वहाँ जो
और उत्साह की, गरमागरम भाषा की, आँखों से आग की चिनगा
निकलने की आशा रखी थी, लेकिन उसके बजाय मुझे यहाँ पालतू, ड
पोक और अधेड़ लोगों का जमघट दिखायी पड़ा। और फिर भी इ
लोगों ने—आम राय का इतना असर था कि—लड़ाई के हक़ में रा
दे दी। निश्चय ही मुस्लिम-लीग के इन मेम्बरों में से बहुत कम ने आ
लड़ाई में योग दिया था। बहुतों को तो सरकारी कामों में पनाह मि
गयी थी। मुस्लिम-लीग उस समय या बाद भी मुसलमानों के किसी
बड़े तबक़े की प्रतिनिधि नहीं रह गयी थी। हाँ, १९२० की खिलाफ़
कमिटी अलबत्ता एक ज़ोरदार और उससे कहीं ज्यादा प्रातिनिधिक संस्
थी, और इसी कमिटी ने जोश और उत्साह के साथ लड़ाई के लि
कमर कस ली।

१ अगस्त गांधीजी ने असहयोग की शुरुआत का दिन रक्खा था—
हालाँकि अभी कांग्रेस ने न तो इसको मंजूर किया था, और न इसप
विचार ही किया था। इसी दिन लोकमान्य तिलक का बम्बई में देहा
हो गया। उसी दिन सुबह गांधीजी सिन्ध के दौरे से बम्बई पहुँचे थे।[1]
मैं उनके साथ था, और हम सब उस ज़बरदस्त जुलूस में शरीक हुए
जिसमें सारी बम्बई के लाखों आदमी अपने उस महान् और मा
नेता को अपनी श्रद्धाञ्जलि देने के लिए दौड़ पड़े।

**१. इसमें कुछ स्मृति-दोष मालूम होता है। गांधीजी तिलक महारा
के अवसान के पहले से अवसान तक काफ़ी दिन बम्बई में ही थे।—अनु**

: ८ :

मेरा निर्वासन

मेरी राजनीति वही थी जो मेरे यानी मध्यमवर्ग की राजनीति थी। हाँ, उस समय, और बहुत हद तक अब भी, मध्यम वर्ग के लोगों की राजनीति ज़बानी थी। क्या नरम और क्या गरम, दोनों विचार के लोग मध्यम वर्ग का प्रतिनिधित्व करते थे और अपने-अपने ढंग से उनकी बहबूदी चाहते थे। माडरेट लोग ख़ास करके मध्यमवर्ग की ऊपरी श्रेणी के मुट्ठीभर लोगों में से थे जो कि आम तौर पर ब्रिटिश शासन की बदौलत फूले-फले थे, और एकाएक ऐसे परिवर्तन नहीं चाहते थे जिनसे उनकी मौजूदा स्थिति और स्वार्थों को धक्का लगे। ब्रिटिश सरकार से और बड़े ज़मींदारों से उनके घने सम्बन्ध थे। गरम विचार के लोग भी मध्यम वर्ग के ही थे; परन्तु निचली सतह के। कल-कारख़ानों के मजदूर, जिनकी संख्या महायुद्ध के कारण बेहद बढ़ गयी थी, कुछ-कुछ जगहों में ही, मुक़ामी तौर पर संगठित हो पाये थे, और उनका प्रभाव नहीं के बराबर था। किसान अपढ़, अज्ञान, मुफ़लिस, गँवार, दुःखी और मुसीबत के मारे थे। भाग्य के भरोसे दिन काटते और सरकार, ज़मींदार साहूकार, छोटे-बड़े हुक्काम, वकील, पंडे-पुरोहित, जो भी होते सब उनपर सवारी गाँठते और उनको चूसते थे।

किसी अख़बार का कोई पाठक शायद ही उन दिनों ख़याल करता होगा कि हिन्दुस्तान में करोड़ों किसान और लाखों मज़दूर हैं या उनकी कोई वक़त है। अंग्रेज़ों के अख़बार बड़े अफ़सरों के कारनामों से भरे रहते। उनमें शहरों और पहाड़ों पर रहनेवाले अंग्रेज़ों के सामाजिक जीवन की यानी उनकी पार्टियों की, उनके नाच-गान और नाटकों की, लम्बी-लम्बी ख़बरें छपा करतीं। उनमें हिन्दुस्तानियों के दृष्टिबिन्दु से हिन्दुस्तान की राजनीति की चर्चा प्रायः बिल्कुल नहीं की जाती थी, यहाँतक कि कांग्रेस के अधिवेशन के समाचार भी किसी ऐसे-वैसे पन्ने

के एक कोने में और सो भी कुछ सतरों में, दे दिया करते थे। कोई ख़बर तभी किसी काम की समझी जाती, जब हिन्दुस्तानी, चाहे वह बड़ा हो या मामूली, कांग्रेस को या उसके दावों को बुरा-भला कह बैठता या नुक़ताचीनी कर बैठता। कभी-कभी किसी हड़ताल का थोड़ा ज़िक्र आ जाता; और देहात को तो महत्त्व तभी दिया जाता जब वहाँ कोई दंगा-फ़साद हो जाता।

हिन्दुस्तानी अख़बार भी अंग्रेज़ी अख़बारों की नक़ल करने की कोशिश करते। लेकिन वे राष्ट्रीय आन्दोलन को उनसे कहीं ज्यादा महत्त्व देते थे। यों तो वे हिन्दुस्तानियों को छोटी-बड़ी नौकरियाँ दिलवाने, उनकी तरक्की और तबदीली में, और जब किसी जानेवाले अफ़सर की विदाई में कोई पार्टी दी जाती थी, जिसमें लोगों में बड़ा उत्साह होता था, दिलचस्पी लेते थे। जब कभी नया बन्दोबस्त होता, तो क़रीब-क़रीब हमेशा ही लगान वग़ैरा बढ़ जाता था, जिससे पुकार मच जाती; क्योंकि उसका असर ज़मींदारों की जेब पर भी पड़ता। बेचारे किसान जो ज़मीन जोतते थे, उनकी तो कोई बात ही नहीं पूछता था। ये अख़बार ज़मींदार और कल-कारख़ानेवालों के होते थे। यह हालत थी उन अख़बारों की जो 'राष्ट्रीय' कहे जाते थे।

यही क्यों, ख़ुद कांग्रेस का भी शुरू के दिनों में एक यह मतालबा था कि जहाँ-जहाँ अभी बंदोबस्त नहीं हो पाया है वहाँ स्थायी बंदोबस्त कर दिया जाय कि जिससे ज़मींदारों के हक़ूक़ की रक्षा हो सके, और उसमें किसानों का कहीं ज़िक्र तक न रहता था।

पिछले बीस वर्षों में राष्ट्रीय आन्दोलन की बढ़ती के कारण हालत बहुत बदल गयी है, और अब अंग्रेज़ों के अख़बारों को भी हिन्दुस्तान के राजनैतिक प्रश्नों के लिए जगह देनी पड़ती है, क्योंकि ऐसा न करे तो हिन्दुस्तानी पाठकों के टूट जाने का अंदेशा रहता है। परन्तु यह बात वे अपने ख़ास ढंग से ही करते हैं। हिन्दुस्तानी अख़बारों की दृष्टि कुछ विशाल हो गयी है। वे किसानों और मज़दूरों की भी बातें किया करते हैं; क्योंकि एक तो आजकल यह फ़ैशन हो गया है और दूसरे उनके

कों में कल-कारखानों और गाँव-सम्बन्धी बातों के जानने की तरफ़
चस्पी बढ़ रही है। परन्तु दरअसल तो अब भी वे पहले की तरह
स्तानी पूँजीपतियों और ज़मींदारी वर्ग के हितों का ही ध्यान रखते
जो कि उनके मालिक होते हैं। कितने ही हिन्दुस्तानी राजा-महाराजा
अख़बारों में अपना रुपया लगाने लगे हैं और वे हर तरह कोशिश
ते हैं कि उन्हें अपने रुपयों का मुआवज़ा मिल जाय। फिर भी इनमें
हुत से अख़बार 'कांग्रेसी' कहलाते हैं, हालाँकि वे जिनके तावे हैं उनमें
हुतेरे कांग्रेस के मेम्बर भी न होंगे। किन्तु कांग्रेस शब्द लोगों को बहुत
रा होगया है और कितने ही लोग और संस्थायें उसे अपने फ़ायदे के
ए इस्तैमाल करते हैं। जो अख़बार ज़रा आगे बढ़े विचारों का प्रतिपादन
ते हैं उन्हें या तो बड़े-बड़े जुर्मानों का, यहाँतक कि प्रेस-एक्ट के
ये दबा दिये जाने या सेंसर किये जाने का भी, ख़ौफ़ बना रहता है।
१९२० में मुझे इस बात का बिलकुल पता न था कि कारख़ानों में
खेतों में काम करनेवाले मज़दूरों की हालत क्या है, और मेरा राज-
क दृष्टिकोण बिलकुल मध्यम वर्ग के जैसा था। फिर भी मैं इतना
र जानता था कि उनमें ग़रीबी बहुत है और उनके दुःख भयंकर हैं
र मैं सोचता था कि राजनैतिक दृष्टि से हिन्दुस्तान आज़ाद हो जाये,
उसका पहला लक्ष्य यह होगा कि इस ग़रीबी के मसले को हल करे।
र मुझे सबसे पहली सीढ़ी तो राजनैतिक आज़ादी ही दिखायी दी,
जमें मध्यम वर्ग की प्रधानता हुए बिना नहीं रह सकती। गांधीजी के
पारन (बिहार) और खेड़ा (गुजरात) के किसान-आन्दोलन के बाद
सानों के प्रश्न पर मैं ज्यादा ध्यान देने लगा। फिर भी मेरा ध्यान तो
२० में राजनैतिक बातों में और असहयोग के आगमन में लग रहा
जिसकी चर्चा से राजनैतिक वायुमण्डल भरा हुआ था।
इन्हीं दिनों एक नयी बात में मेरी दिलचस्पी पैदा हो रही थी, जिसे
आगे चलकर एक महत्व का काम करना था। मैं अपनी ख़ुद की प्रायः
ई इच्छा न रहते हुए, किसानों के सम्पर्क में आ गया, और सो भी
अजीब तरीक़े से।

मेरी माँ और कमला (मेरी पत्नी) दोनों की तन्दुरुस्ती खराब थी और मई १९२० के शुरु में मैं उनको मसूरी ले गया। पिताजी उस वक्त एक बड़े राज्य के मामले में मशगूल थे, जिनमें कि दूसरी ओर के वकील देशबन्धुदास थे। हम सेवाय होटल में ठहरे थे। उन दिनों अफ़गान और ब्रिटिश राज-प्रतिनिधियों के दर्म्यान मसूरी में सुल्ह की बातें हो रही थीं (यह १९१९ में हुए छोटे अफ़ग़ान युद्ध के बाद की बात थी जबकि अमानुल्ला तख़्त पर बैठा था) और अफ़ग़ान प्रतिनिधि सेवाय होटल में ठहरे हुए थे। लेकिन वे एक तरफ़ ही रहते थे, खाना भी अकेले खाते थे और किसीसे मिलते-जुलते न थे। मुझे उनमें कोई खास दिलचस्पी नहीं थी और इस महीने भर में मैंने उस प्रतिनिधि-मंडल के एक भी आदमी को नहीं देखा और अगर देखा भी हो तो मैं किसीको पहचानता न था। लेकिन क्या देखता हूँ कि एक दिन एकाएक शाम को पुलिस-सुपरिन्टेन्डेंट वहाँ आया और मुझे स्थानीय सरकार का खत दिखाया, जिसमें मुझसे यह वादा चाहा गया था कि मैं अफ़ग़ान-प्रतिनिधि-मण्डल से कोई सरोकार न रक्खूँ। मुझे यह एक बड़ी अजीब बात मालूम हुई, क्योंकि इस महीने भर में मैंने उन्हें कभी देखा तक नहीं और न मुझे उसका मौक़ा मिल सकता था। सुपरिन्टेन्डेंट इस बात को जानता था, क्योंकि वह प्रतिनिधि-मण्डल की हलचलों पर ग़ौर से निगाह रखता था और वहाँ दरअसल खुफिया लोगों का एक खासा जमघट लगा रहता था। मगर ऐसा वादा करना मेरे मिजाज के खिलाफ़ था और मैंने उनसे ऐसा कह भी दिया। उन्होंने मुझे डिस्ट्रिक्ट मजिस्ट्रेट से, जो कि देहरादून का सुपरिन्टेन्डेण्ट था, मिलने के लिए कहा और उससे मैं मिला। चूँकि मैं बराबर कहता रहा कि मैं ऐसा वादा नहीं कर सकता, मुझे मसूरी से चले जाने का हुक्म मिला, जिसमें कहा गया कि मैं २४ घंटे के अन्दर देहरादून जिले के बाहर चला जाऊँ। इसके मानी यही थे कि मैं कुछ घन्टों में ही मसूरी छोड़ दूँ। मुझे यह अच्छा तो नहीं लगा कि अपनी बीमार माँ और पत्नी दोनों को वहाँ छोड़कर जाऊँ, लेकिन उस वक्त मुझे उस हुक्म की खिलाफ़वर्ज़ी करना मुनासिब मालूम नहीं हुआ।

क्योंकि उस समय सविनय भंग तो था नहीं; इसलिए मैं मसूरी से चल दिया।

मेरे पिताजी की सर हारकोर्ट बटलर से, जो कि उस समय युक्त-प्रान्त के गवर्नर थे, अच्छी तरह मुलाक़ात थी। उन्होंने दोस्ताना तरीक़े पर सर हारकोर्ट को पत्र लिखा कि मुझे यक़ीन है कि ऐसा वाहियात हुक्म आपने न दिया होगा; यह शिमला के किसी मनचले हाकिम की कार्रवाई मालूम होती है। सर हारकोर्ट ने जवाब दिया कि हुक्म में कोई ऐसी ख़राब बात नहीं है जिसके मानने से जवाहरलाल के शान में कोई फ़र्क़ आजाता। इसके जवाब में पिताजी ने उनसे अपना मतभेद प्रकट किया और लिखा कि जवाहरलाल का जानबूझकर हुक्म तोड़ने का तो कोई इरादा नहीं है; पर अगर उसकी माँ या पत्नी की तन्दुरुस्ती के लिए ज़रूरी हुआ, तो वह ज़रूर मसूरी जायगा, चाहे आपका हुक्म रहे या न रहे। और ऐसा ही हुआ भी। मेरी माँ की हालत ज्यादा ख़राब हो गयी और पिताजी व मैं दोनों तुरन्त मसूरी के लिए रवाना हो गये। उनके ठीक पहले हमें उस हुक्म की मंसूख़ी का एक तार मिला।

दूसरे दिन सुबह मसूरी पहुँचने पर सबसे पहले जो शख़्स मैंने होटल के आँगन में देखा वह अफ़ग़ान था और मेरी छोटी बच्ची को गोद में लिये हुए था। मुझे मालूम हुआ कि वह वहाँका एक मिनिस्टर और अफ़ग़ान प्रतिनिधि-मण्डल का एक सदस्य था। बाद को पता चला कि मसूरी में मेरे निकाले जाने का हुक्म मिलते ही उन अफ़ग़ानों ने अख़बारों में उसके समाचार पढ़े और उनकी दिलचस्पी यहाँतक बढ़ी कि प्रतिनिधि-मण्डल के प्रधान हर रोज फूल और फलों की एक डलिया मेरी माँ को भेजा करते।

बाद को पिताजी और मैं प्रतिनिधि-मण्डल के एक-दो सदस्य से मिले भी थे और उन्होंने हमें अफ़ग़ानिस्तान आने का प्रेमपूर्वक निमन्त्रण दिया था। मगर अफ़सोस है कि हम उससे कुछ फ़ायदा न उठा पाये, और पता नहीं वहाँकी नयी हुकूमत में वह निमंत्रण अब क़ायम रहा है या नहीं।

मसूरी से निकाल दिये जाने के फल-स्वरूप मुझे दो हफ्ते इलाहाबाद रहना पड़ा और इसी अर्से में मैं किसान-आन्दोलन में जा फँसा और ज्यों-ज्यों दिन आते गये त्यों-त्यों मैं उसमें अधिकाधिक फँसता गया, जिसने मेरे विचारों और दृष्टिकोण पर काफ़ी असर डाला। कभी-कभी मेरे मन में यह विचार उठा है कि अगर मैं न तो मसूरी से निकाला जाता और न इलाहाबाद में ठहरा होता, या उन्हीं दिनों कोई दूसरा काम होता तो क्या हुआ होता ? बहुत मुमकिन है कि मैं किसानों की ओर तो किसी-न-किसी तरह आगे-पीछे खींचा गया होता; परन्तु मेरा उनके पास जाने का तरीक़ा और इसलिए उसका असर भी कुछ और होता।

जून १९२० के शुरू में, जहाँतक मुझे याद है, कोई दो सौ किसान परतावगढ़ के देहात से पचास मील पैदल चलकर इलाहाबाद आये—इस इरादे से कि वे अपने दुःखों और मुसीबतों की तरफ़ वहाँ के ख़ास-ख़ास राजनैतिक पुरुषों का ध्यान आकर्षित करें। रामचन्द्र नामक उनके एक अगुआ थे, जो न तो वहाँ के रहनेवाले ही थे और न खुद किसान ही। मैंने सुना किसानों का यह जत्था जमना के घाट पर डेरा डाले हुए है। मैं कुछ मित्रों के साथ उनसे मिलने गया। उन्होंने बताया कि किस तरह ताल्लुक़ेदार ज़ोर-जुल्म से वसूली करते हैं, कैसा उनका अमानुष व्यवहार है, और कैसी उनकी असह्य हालत हो गयी है। उन्होंने हमसे प्रार्थना की कि हम उनके साथ चलकर उनकी हालत की जाँच करें। उनको डर था कि ताल्लुक़ेदार उनके इलाहाबाद आने पर ज़रूर बहुत बिगड़ेंगे और उसका बदला लिये बिना न रहेंगे, इसलिए वे चाहते थे कि उनकी हिफ़ाजत के लिए हम उनके साथ रहें। वे हमारे इन्कार को मानने के लिए किसी तरह तैयार न थे और सचमुच हमसे बुरी तरह चिपट गये। आख़िर को मैंने उनसे वादा किया कि मैं एक-दो रोज़ बाद ज़रूर आऊँगा।

मैं कुछ साथियों को लेकर वहाँ पहुँचा। कोई तीन दिन वहाँ हम लोग गाँव में रहे। वे रेलवे से और पक्की सड़क से बहुत दूर थे। उस

दौरे में मैंने कई नयी बातें देखीं। हमने देखा सारे देहाती इलाके में उत्साह की लहर फैल रही है और उनमें अजीब जोश उमड़ा पड़ता है। ज़रा ज़बानी कहला दिया और बड़ी-बड़ी सभाओं के लिए लोग इकट्ठे हो गये। एक गाँव से दूसरे गाँव और दूसरे से तीसरे गाँव, इस तरह सब गांव में संदेसा पहुँच जाता और देखते-देखते सारे गाँव खाली हो जाते और खेतों में दूर-दूर तक सभास्थान पर आते हुए मर्द, औरत और बच्चे दिखायी देते। और इससे भी ज्यादा तेज़ी से 'सीताराम' सीता···रा···आ···आ···म' की धुन आकाश में गूँज उठती और चारों तरफ़ दूर-दूर तक फैल जाती और दूसरे गाँव से उसीकी प्रतिध्वनि सुनायी पड़ती और बस, लोग पानी की धारा की तरह दौड़ते चले आते। मर्द-औरत फटे-टूटे चिथड़े पहने थे; मगर उनके चेहरे पर जोश और उत्साह था और आँखें चमकती हुई दिखायी देती थीं, मानो कोई विचित्र बात होने को थी, जिसके द्वारा जादू की तरह आनन-फ़ानन में उनकी तमाम मुसीबतों का खात्मा हो जायगा।

उन्होंने हमपर बहुत प्रेम बरसाया और वे हमें आशा तथा प्रेमभरी आँखों से देखते थे—मानों हम कोई शुभ सन्देश सुनाने आये हों, या उनके रहनुमा हों, जो उन्हें उनके लक्ष्य तक पहुँचा देंगे। उनकी मुसीबतों को और उनकी अपार कृतज्ञता को देखकर मैं दुःख और शर्म के मारे गड़ गया। दुःख तो हिन्दुस्तान की ज़बरदस्त ग़रीबी और ज़िल्लत पर, और शर्म मेरी अपनी आराम की ज़िन्दगी पर, और शहरों की न-कुछ राजनीति पर, जिसमें भारत के इन अधनंगे करोड़ों पुत्र-पुत्रियों के लिए कोई स्थान न था। नंगे-भूखे, दलित-पीड़ित भारतवर्ष का एक नया चित्र मेरी आँखों के सामने खड़ा होता हुआ दिखायी दिया। और हम लोग जो दूर शहर से उन्हें देखने कभी-कभी आ जाते हैं, उनके प्रति उनकी श्रद्धा को देखकर मैं परेशानी में पड़ गया और उसने मुझमें यह नयी ज़िम्मेदारी का भाव पैदा कर दिया जिसकी कल्पना से मेरा दिल दहल उठा।

मैंने उनके दुःख की सैकड़ों कहानियाँ सुनीं। कैसे लगान का बोझ

दिन-दिन बढ़ता जा रहा है, जिसके तले वे कुचले जा रहे हैं । किस तरह खिलाफ़-क़ानून लाग ऊगाये जाते हैं और जोरो-जुल्म से वसूली की जाती है, ज़मीन और कच्चे झोपड़ों से किस तरह उनको बेदखल किया जाता है, कैसे उनपर मार पड़ती है, कैसे चारों तरफ़ ज़मींदारों के एजेण्ट, साहूकारों और पुलिस के गिद्धों से घिरे रहते हैं, किस तरह कड़ी धूप में मशक़्क़त करते हैं और अन्त में यह देखते हैं कि उनकी सारी पैदावार उनकी नहीं है——दूसरे ही उठा ले जाते हैं और उसका बदला उन्हें मिलता है ठोकरों, गालियों और भूखे पेट से । जो लोग वहाँ आये थे उनमें से बहुतों के जमीन नहीं थी और जिन्हें ज़मींदारों ने बे-दखल कर दिया था, उन्हें सहारे के लिए न अपनी जमीन थी न अपना झोंपड़ा । यों जमीन उपजाऊ थी मगर उसपर लगान आदि का बोझ बहुत भारी था । खेत छोटे-छोटे थे और एक-एक खेत पाने के लिए कितने ही लोग मरते थे । उनकी इस तड़प से फ़ायदा उठाकर ज़मींदारों ने, जो कि क़ानून के मुताबिक एक हद से ज़्यादा लगान नहीं बढ़ा सकते थे, क़ानून को ताक़ में रखकर भारी-भारी नजराना वग़ैरा बढ़ा दिया था । बेचारे किसान कोई चारा न देख रुपया उधार लाते और नज़राना वग़ैरा करते और फिर जब क़र्ज़ और लगान तक न दे पाते तो बेदखल कर दिये जाते, उनका सब-कुछ छिन जाता था ।

यह तरीक़ा पुराना चला आ रहा है और किसानों की दिन-ब-दिन बढ़नेवाली दरिद्रता का सिलसिला भी एक लम्बे अरसे से चला आ रहा है । तब फिर क्या बात हुई जिससे मामला इस हद तक बढ़ गया और देहात के लोग इस तरह उमड़ पड़े ? निश्चय ही इसका कारण उनकी आर्थिक दशा थी । परन्तु यह हालत तो सारे अवध में एक-सी थी । और यह किसानों का १९२०-२१ का बवण्डर तो सिर्फ परताबगढ़, रायबरेली और फ़ैज़ाबाद जिले में ही फैला हुआ था । इसका आंशिक कारण तो था रामचन्द्र नामक विलक्षण व्यक्ति का अगुआ हो जाना, जो कि बाबा रामचन्द्र कहलाता था ।

रामचन्द्र महाराष्ट्रीय था और कुली-प्रथा के अन्दर मज़दूर बनकर

फ़िज़ी चला गया था। वहाँ से लौटने पर धीरे-धीरे वह अवध के ज़िलों की तरफ आ गया। तुलसीदास की रामायण गाता हुआ और किसानों के कष्टों और दुःखों को सुनाता हुआ वह इधर-उधर घूमने लगा। वह पढ़ा-लिखा थोड़ा था और कुछ हद तक उसने किसानों से अपना ज़ाती फ़ायदा भी कर लिया। मगर हाँ, उसने भारी संगठन-शक्ति का परिचय दिया। उसने किसानों को आपस में समय-समय पर सभा करना और अपनी तकलीफ़ों पर चर्चा करना सिखलाया और हर तरह उनके आपस में एके का भाव पैदा किया। कभी-कभी बड़ी भारी-भारी सभायें होतीं और उससे उन्हें एक बल का अनुभव होता। यों 'सीताराम' एक पुरानी और प्रचलित धुन है, मगर उसने उसे क़रीब-क़रीब एक युद्ध-घोष का रूप दे दिया और ज़रूरत के वक़्त लोगों को बुलाने का तथा जुदा-जुदा गाँवों को आपस में बाँधने का चिन्ह बना दिया। फ़ैज़ाबाद, परतावगढ़ और रायबरेली राम और सीता की पुरानी कथाओं से भरे पड़े हैं। इन ज़िलों का समावेश पुराने अयोध्या-राज्य होता था। तुलसीदासजी की रामायण वहाँ लोगों के घर-घर गायी जाती है। कितने ही लोगों को इसके हज़ारों दोहे, चौपाई ज़बानी याद थे। इस रामायण का गान और अच्छे-अच्छे प्रसंगों पर मौज़ू दोहे-चौपाइयों की मिसाल देना बाबा रामचन्द्र का एक ख़ास तर्ज़ था। कुछ हद तक किसानों का संगठन करके उसने उनके सामने बहुतेरे गोल-मोल और ऊटपटाँग वायदे भी किये, जिनसे उन्हें बड़ी-बड़ी आशायें बँधीं। उसके पास किसी-क़िस्म का कोई कार्यक्रम नहीं था, और जब उनका जोश आख़िरी सीमातक पहुँच गया, तो उसने उसकी ज़िम्मेदारी को दूसरों पर डालने की कोशिश की। यही कारण है जो वह कितने ही किसानों को इलाहाबाद लाया कि वहाँ के लोग उस आन्दोलन में दिलचस्पी लें।

एक साल तक और रामचन्द्र ने आन्दोलन में प्रधान रूप से भाग लिया और दो-तीन बार जेल गया। मगर बाद में जाकर वह बड़ा ग़ैर-ज़िम्मेदार और अविश्वसनीय साबित हुआ।

किसान-आन्दोलन के लिए अवध ख़ास तौर पर अच्छा क्षेत्र था।

वह ताल्लुक़ेदारों की, जो कि अपनेको 'अवध के राजा' कहते हैं, भूमि थी और अब भी है। ज़मींदारी-प्रथा का सबसे बिगड़ा हुआ रूप वहाँ मिलता है। ज़मींदारों के लगाये करों के बोझ असह्य हो रहे थे और बे-जमीन मज़दूरों की तादाद बढ़ रही थी। वहाँ यों सिर्फ़ एक ही क़िस्म के किसान थे और इसीसे वे सब मिलकर एक-साथ कोई कार्रवाई कर सके।

हिन्दुस्तान को मोटे तौर पर दो भागों में बाँट सकते हैं। एक ज़मींदारी इलाक़ा, जिसमें बड़े-बड़े ज़मींदार हैं, और दूसरा वह जहाँ किसान ज़मीन के मालिक हैं। मगर कहीं-कहीं दोनों की खिचड़ी हो जाती है। बंगाल, बिहार और संयुक्तप्रांत ज़मींदारी इलाक़ा है। किसानी इलाक़े के लोगों की हालत इनसे अच्छी है, हालाँकि वहाँ भी उनकी हालत कई बार दयाजनक हो जाती है। पंजाब और गुजरात के (जहाँ ज़मींदार किसान हैं) किसानों की हालत ज़मींदारी इलाक़े से कहीं अच्छी है। ज़मींदारी इलाक़े के ज्यादातर हिस्से में कई क़िस्म के काश्तकार थे, दख़ीलकार ग़ैर-दख़ीलकार और शिकमी वग़ैरा। इन जुदा-जुदा काश्तकारों के स्वार्थ अक्सर आपस में टकराते और इस कारण मिलकर एक साथ कोई ज़ोरदार काम नहीं किया जा सकता। लेकिन अवध में १९२० में न तो दख़ीलकार काश्तकार थे और न हीनहयात काश्तकार ही थे। वहाँ सिर्फ़ आरज़ी काश्तकार थे, जो बे-दख़ल होते रहते थे और जिनकी ज़मीनें ज्यादा नज़राना या लगान देने पर दूसरों को दे दी जाया करती थीं। इस तरह चूँकि वहाँ खास तौर पर एक ही तरह के काश्तकार थे, वहाँ एकसाथ काम करने के लिए संगठन करना और भी आसान था।

अवध में आरज़ी पट्टे की भी कोई गारन्टी देने का रिवाज़ नहीं था। ज़मींदार शायद ही कहीं लगान की रसीद देते थे और कोई भी ज़मींदार कह सकता था कि लगान अदा नहीं किया गया और काश्तकार को बे-दखल कर सकता था। उस बेचारे के लिए साबित करना ग़ैर-मुमकिन था कि लगान अदा कर दिया। लगान के अलावा बहुतेरी बेजा लागें लगी हुई थीं। मुझे मालूम हुआ कि उस ताल्लुक़े में तरह-तरह की पचास

ऐसी लागें लगी हुई हैं। मुमकिन है यह बात बढ़ाकर कही गयी हो। मगर ताल्लुक़ेदार जिस तरह ख़ास-ख़ास मौक़ों पर—जैसे अपने कुटुम्ब में किसीकी शादी हो तो, लड़के विलायत पढ़ने गये हों तो, गवर्नर या दूसरे बड़े अफ़सर को पार्टी दी गयी हो तो, एक मोटर या हाथी ख़रीदा गया हो तो—उनके खर्चे का रुपया वसूल करते थे, यह कितनी दुष्टता थी। यहाँतक कि इन लागों के मोटरोना (मोटर-टैक्स), हथियोना (हाथी के ख़रीदने का खर्च) वग़ैरा नाम पड़ गये थे।

ऐसी हालत में कोई ताज्जुब नहीं जो अवध में इतना बड़ा किसान-आन्दोलन उठ खड़ा हुआ हो; बल्कि मुझे उस वक्त ताज्जुब तो इस बात पर हुआ कि बिना शहरवालों की मदद के या राजनैतिक पुरुषों अथवा ऐसे ही दूसरे लोगों की प्रेरणा के कैसे बिलकुल अपने-आप वह इतना बढ़ गया? यह किसान-आन्दोलन कांग्रेस से बिलकुल अलहदा था। देश में जो असहयोग-आंदोलन आरम्भ हो रहा था, उसका इससे कोई ताल्लुक़ न था। बल्कि यह कहना ज्यादा सही हो कि इन दोनों विशाल और ज़ोरदार आन्दोलनों का मूल कारण एक-सा था। हाँ, १९१९ में गांधीजी ने जो बड़ी-बड़ी हड़तालें करायी थीं उनमें किसानों ने भी हिस्सा लिया था, और उसके बाद से उनका नाम देहातियों में जादू का काम करता था।

मुझे सबसे बड़ा आश्चर्य इस बात पर हुआ कि हम शहरवालों को इतने बड़े किसान-आन्दोलन का पता तक नहीं था। किसी अख़बार में उसपर एक सतर भी नहीं आती थी। उन्हें देहात की बातों में कोई दिलचस्पी नहीं थी। मैंने इस बात को और भी ज्यादा महसूस किया कि हम अपने लोगों से किस तरह दूर पड़े हुए हैं, और उनसे अलग अपनी छोटी-सी दुनिया में किस तरह रहते और काम करते हैं!

: ९ :

किसानों में भ्रमण

तीन दिन तक मैं गाँवों में घूमता रहा और एक बार इलाहाबाद आकर फिर वापिस गया। हम गाँव-गाँव घूमे—किसानों के साथ खाते, उन्हीं के साथ उनके कच्चे झोंपड़ों में रहते, घंटों उनसे बात-चीत करते और कभी-कभी छोटी-बड़ी सभाओं में व्याख्यान भी देते। शुरू में हम एक छोटी मोटर में गये थे। किसानों में इतना उत्साह था कि सैकड़ों ने रात-रात भर काम करके खेतों के रास्ते कच्ची सड़क तैयार की, जिससे मोटर ठेठ दूर-दूर के गाँवों में जा सके। अक्सर मोटर अड़ जाती और बीसों आदमी खुशी-खुशी दौड़कर उसे उठाते। आखिर को हमें मोटर छोड़ देनी पड़ी और ज्यादातर सफ़र पैदल ही करना पड़ा। जहाँ कहीं हम गये, हमारे साथ पुलिस और ख़ुफिया के लोग, और लखनऊ के डिप्टी कलेक्टर रहते थे। मैं समझता हूँ, खेतों में हमारे साथ दूर-दूर तक पैदल चलते हुए उनपर एक प्रकार की मुसीबत आगयी होगी। वे सब थक गये थे। हमसे और किसानों से बिलकुल उकता उठे थे। डिप्टी कलेक्टर थे लखनऊ के एक नाज़ुक-मिजाज नौजवान, पम्प-शू पहने हुए। कभी-कभी वह हमसे कहते कि ज़रा धीरे चलें। मैं समझता हूँ आखिर हमारे साथ चलना उन्हें दुश्वार हो गया और वह रास्ते में ही कहीं रह गये।

जून का महीना था, जिसमें सबसे ज़्यादा गर्मी पड़ा करती है। बारिश के पहले की तपिश थी। सूरज की तेज़ी बदन को झुलसाये देती थी और आँखों को अंधा बना देती थी। मुझे धूप में चलने की बिलकुल आदत न थी और इंग्लैंड से लौटने के बाद हर साल गर्मियों में मैं पहाड़ पर चला जाया करता था। किन्तु इस बार मैं दिन भर खुली धूप में घूमता था और सिर पर धूप से बचने को हैट भी न था। सिर्फ़ एक छोटा तौलिया सिर पर लपेट लिया था। दूसरी बातों में मैं इतना मश-ग़ूल था कि धूप का कुछ ख़याल भी नहीं रहा; और इलाहाबाद लौटने

पर जब कहीं मैंने देखा तो मेरे चेहरे का रंग कितना पक्का हो गया था। और मुझे याद पड़ा कि सफर में क्या-क्या बीती। लेकिन इस बात पर मैं अपने-आपसे खुश हुआ; क्योंकि मुझे मालूम हो गया कि बड़े-बड़े मज़बूत आदमियों के बराबर मैं धूप को बर्दाश्त कर सका, और मैं जो उससे डरता था उसकी जरूरत नहीं थी। मैंने देख लिया है कि मैं कड़ी-से-कड़ी गर्मी और कड़े-से-कड़े जाड़े को बिला ज्यादा तक़लीफ के बर्दाश्त कर सकता हूँ। इससे मुझे अपने काम में तथा जेल-जीवन बिताने में बड़ी मदद मिली। इसकी वजह यह थी कि मेरा शरीर आम तौर पर मज़बूत और काम करने के लायक़ था और मैं हमेशा कसरत किया करता था। इसका सबक़ मैंने पिताजी से सीखा था, जो थोड़े-बहुत कसरती थे और क़रीब-क़रीब अपने आख़िरी दिनों तक उन्होंने रोज़ाना कसरत जारी रखी थी। उनके सिर पर चाँदी-से सफ़ेद बाल हो गये थे, चेहरे पर झुर्रियाँ पड़ गयी थीं और वह विचार करते-करते बूढ़े और थके-से दिखायी देते थे। मगर उनका बाक़ी शरीर मृत्यु के एक-दो साल पहले तक उनसे बीस बरस कम उम्र के आदमी का-सा जान पड़ता था।

जून १९२० में परतावगढ़ जाने के पहले भी मैं गाँवों से अक्सर गुजरता था। वहाँ ठहरता था और किसानों से बात-चीत भी करता था। बड़े-बड़े मेलों के अवसर पर गंगा-किनारे हज़ारों देहातियों को मैंने देखा था और उनमें होमरूल का प्रचार किया था। लेकिन उस समय मैं यह अच्छी तरह न जानता था कि दरअसल वे क्या हैं, और हिन्दुस्तान के लिए उनका क्या महत्त्व है। हममें से ज्यादातर लोगों की तरह मैं भी उनके बारे में कोई विचार नहीं करता था। यह बात मुझे इस परतावगढ़ की यात्रा में मालूम हुई, और तबसे हिन्दुस्तान का जो चित्र मैंने अपने दिमाग़ में बना रखा है उसमें हमेशा के लिए इस नंगी-भूखी जनता का स्थान बन गया है। सम्भवतः उस हवा में एक क़िस्म की बिजली थी। शायद मेरा दिमाग़ उसका असर अपनेपर पड़ने देने के लिए तैयार था। और उस समय जो चित्र मैंने देखे और जो छाप मुझ-पर पड़ी वह मेरे दिलपर हमेशा के लिए अमिट हो गयी।

इन किसानों की बदौलत मेरी झेंप निकल गयी और मैं सभाओं में बोलना सीख गया। तबतक मैं शायद ही किसी सभा में बोला होऊँ। अक्सर हमेशा हिन्दुस्तानी में बोलने की नौबत आती थी और उसके ख़याल से मैं दहशत खाया करता था। लेकिन मैं किसान-सभाओं में बोलने को कैसे टाल सकता था? और इन सीधे-सादे ग़रीब लोगों के सामने बोलने में झेंपने की भी क्या बात थी? मैं वक्तृत्व-कला तो जानता न था। इसलिए उनके साथ एक-दिल होकर बोलता और मेरे दिल और दिमाग़ में जो-कुछ होता था वह सब उनसे कह देता था। लोग चाहे थोड़े हों चाहे हज़ारों की तादाद में हों, मैं हमेशा बातचीत के या ज़ाती ढंग से ही उनके सामने बोलता; और मैंने देखा कि चाहे कुछ कमी भी उसमें रह जाती हो, लेकिन मेरा काम चल जाता था। मेरे व्याख्यान में प्रवाह काफ़ी रहता था। मैं जो-कुछ कहता था शायद उसका बहुत-कुछ हिस्सा उनमें से बहुतेरे समझ नहीं पाते थे। मेरी भाषा और मेरे विचार इतने सरल न थे कि वे समझ सकते। बहुत लोग तो मेरा भाषण सुन ही नहीं पाते थे; क्योंकि भीड़ तो भारी होती थी और मेरी आवाज़ दूर तक नहीं पहुँच पाती थी। लेकिन जबकि वे किसी एक शख़्स पर भरोसा और श्रद्धा कर लेते हैं, तब इन सब बातों की ज्यादा परवा उन्हें नहीं रहती।

मैं अपनी माँ और पत्नी से मिलने मसूरी गया तो, मगर मेरे दिमाग़ में किसानों की ही बातें भरी थीं और मैं फिर उनमें जाने के लिए उत्सुक था। ज्योंही मैं मसूरी से वापस लौटा, गाँवों में घूमने चला गया; और मैंने देखा कि किसान-आन्दोलन बढ़ता जा रहा था। उन पीड़ित किसानों के अन्दर एक नया आत्म-विश्वास पैदा हो रहा था। वे छाती तानकर और सिर ऊँचा करके चलने लगे थे। ज़मींदारों के कारिन्दों और पुलिस का डर उनके दिल में कम होता चला था। और यदि किसीका खेत बे-दख़ल होता था तो कोई दूसरा किसान उसे लेने के लिए आगे नहीं बढ़ता था। ज़मींदारों के नौकर जो उन्हें मारा-पीटा करते थे और क़ानून के ख़िलाफ़ उनसे बेगार और लाग लिया करते थे

वह कम हो गया था; और जब कभी कोई ज्यादती होती तो फ़ौरन उसकी रिपोर्ट होती और तहक़ीक़ात की कोशिश की जाती। इससे ज़मींदारों के कारिन्दों और पुलिस की ज्यादतियों की कुछ रोक हुई। ताल्लुक़ेदार घबराये और अपनी रक्षा का उपाय करते रहे और प्रान्तीय सरकार ने अवध-काश्तकारी-क़ानून में सुधार करने का वादा किया।

ताल्लुक़ेदार और बड़े ज़मींदार ज़मीन के मालिक कहलाते हैं। वे अपनेको "लोगों के स्वाभाविक नेता" कहने में अपना फ़ख्र समझते हैं। वे यों तो ब्रिटिश सरकार के लाड़ले और बिगड़ैल बेटे हैं, लेकिन सरकार ने उनके लिए शिक्षा और लालन-पालन की जो विशेष व्यवस्था की थी, या करने की भूल की थी, उसके द्वारा उसने उनके सारे वर्ग को बुद्धि और दिमाग़ में बिलकुल बोदा और निकम्मा बना दिया। वे अपने काश्तकारों के लिए कुछ भी नहीं करते थे जैसा कि दूसरे देशों के ज़मींदार अक्सर थोड़ा-बहुत किया करते हैं, और ज़मीन और लोगों को महज़ चूसकर अपना पेट भरनेवाले रह गये थे। उनके पास सबसे बड़ा काम यह रह गया था कि वे मुक़ामी अफ़सरों की ख़ुशामद-दरमाद करते रहें—कि जिनकी मेहरबानी के बिना उनकी हस्ती ज्यादा दिन ठहर नहीं सकती थी। और वे हमेशा अपने ख़ास स्वार्थों और हक़ों की रक्षा का लगातार मतालबा करते रहते थे।

'ज़मींदार' शब्द से ज़रा धोखा हो जाता है और किसी-किसी को यह ख़याल हो सकता है कि तमाम ज़मींदार बड़ी-बड़ी ज़मीनों के मालिक हैं। जिन सूबों में रैयतवारी तरीक़ा है, वहाँ ज़मींदार के मानी हैं ख़ुद खेती करनेवाला ज़मीन-मालिक। उन प्रान्तों में भी जहाँ ज़मींदारी-प्रथा है, ज़मींदारों में कम ज़मीन के मालिक, मध्यम दर्जे के हज़ारों ज़मीन-मालिक, और वे हज़ारों लोग भी जो हद दर्जे की ग़रीबी में दिन काटते हैं और जो किसी तरह काश्तकारों से अच्छी हालत में नहीं हैं, आजाते हैं। संयुक्त-प्रान्त में, जहाँ तक मुझे याद है, पन्द्रह लाख के क़रीब ऐसे लोग हैं जिनकी गिनती ज़मींदार-वर्ग में की जाती है। ग़ालिबन इनमें से ९० फ़ीसदी से ऊपर की हालत ग़रीब-से-ग़रीब काश्तकार की

हालत से मिलती-जुलती है और दूसरे ९ फ़ीसदी की हालत कुछ अच्छी है। बड़े समझे जानेवाले ज़मीन-मालिक सारे सूबे में पांच हजार से ज्यादा नहीं हैं और इसके कोई १/१० दर-हक़ीक़त बड़े ज़मींदार और ताल्लुकेदार कहलाने लायक़ हैं। बाज़-बाज़ बड़े काश्तकार की हालत तो छोटे ग़रीब ज़मींदारों से कहीं अच्छी है। ग़रीब ज़मीन-मालिक और मध्यम दर्जे के ज़मींदार शिक्षा में पिछड़े हुए हैं। मगर हैं आम तौर पर बहुत अच्छे लोग---स्त्री व पुरुष दोनों। और यदि उनकी शिक्षा-दीक्षा का प्रबन्ध अच्छा हो, तो वे बढ़िया नागरिक बन सकते हैं। उन्होंने राष्ट्रीय आन्दोलनों में खासा हिस्सा लिया है। मगर ताल्लुक़ेदारों और बड़े ज़मींदारों ने नहीं---हाँ, कुछ अच्छे अपवादों को छोड़कर। और तो और उनमें कुलीन वर्ग की खूबियाँ भी नहीं पायी जातीं। एक वर्ग की हैसियत से शरीर और बुद्धि दोनों में वे गिर गये हैं। अबतक तो उनका ख़ात्मा ही हो जाना चाहिए था। अब वे तभीतक जीवित रह सकेंगे कि जबतक ब्रिटिश सरकार ऊपर से उनको सहारा लगाती रहेगी।

पूरे १९२१ भर मैं देहाती इलाक़ों में आता-जाता रहा। लेकिन मेरा कार्य-क्षेत्र बढ़ता गया---यहाँतक कि वह सारे युक्त-प्रान्त में फैल गया। असहयोग सरगर्मी से शुरू हो गया था और उसका सन्देश दूर-दूर के गाँवों में पहुँच चुका था। हर जिले में कांग्रेस-कार्यकर्त्ताओं का एक झुण्ड इस नये सन्देश को लेकर देहात में जाता, और उसके साथ वह किसानों की शिकायतें दूर करने की बात भी मोटे तौर पर जोड़ देता था। स्वराज एक ऐसा व्यापक शब्द था जिसमें सब-कुछ आजाता था, फिर भी ये दोनों आन्दोलन---असहयोग और किसान---बिलकुल अलहदा-अलहदा थे; हालाँकि हमारे प्रान्त में ये दोनों बहुत-कुछ एक दूसरे में मिल-जुल जाते थे और एक-दूसरे पर असर डालते थे। कांग्रेस के इस प्रचार का यह फल हुआ कि मुक़दमेबाजी एकबारगी कम हो गयी और गाँवों में पञ्चायतें क़ायम होकर उनमें मुक़दमे फ़ैसल होने लगे। कांग्रेस का असर शान्ति के हक़ में खास तौर पर ज्यादा गिरा, क्योंकि जहाँ भी कोई कांग्रेस-कार्यकर्त्ता जाता, वहाँ वह इस नये अहिंसा

के सिद्धान्त पर ख़ास तौर पर जोर देता। हो सकता है कि लोगों ने न तो इसकी पूरी क़द्र की हो, न इसे पूरा समझा ही हो; लेकिन इसने किसानों को मार-काटपर उतर पड़ने से रोका ज़रूर है।

यह कोई कम बात न थी। किसान जब उभड़ते हैं तो मार-पीट पर बैठते हैं और उनका उभाड़ किसानों और मालिकों की एक लड़ाई ही बन जाती है। और उन दिनों अवध के हिस्से के किसानों के जोश का पारा बहुत ऊँचा चढ़ा हुआ था और वे सब-कुछ कर डालने पर आमादा थे। एक चिनगारी पड़ने की देर थी कि आग धधक उठती। फिर भी उन्होंने ग़ज़ब की शान्ति रक्खी। मुझे सिर्फ एक ही मिसाल याद आती है कि जिसमें एक ताल्लुक़ेदार पीटा गया। ताल्लुकेदार अपने घर में बैटा था—उसके यार-दोस्त आसपास बैठे थे। एक किसान उसके पास गया और उसके गाल पर एक थप्पड़ जमा दिया। किसान का कहना था कि वह अपनी पत्नी के साथ अच्छा व्यवहार नहीं करता था और बदचलन था।

एक और क़िस्म का हिंसा-कार्य आगे जाकर हुआ, जिसमें सरकार के साथ टक्करें हुईं। मगर ये टक्करें तो आगे-पीछे होकर ही रहतीं; क्योंकि सरकार संगठित किसानों की बढ़ती हुई ताक़त को बर्दाश्त नहीं कर सकती थी। ढेर-के-ढेर किसान बिना टिकट रेल में सफर करने लगे—ख़ास तौर पर तब, जब कि उन्हें अपनी बड़ी-बड़ी सभाओं में समय-समय पर जाना पड़ता था। कभी-कभी तो उनकी तादाद साठ से सत्तर हज़ार तक हो जाती। उन्हें हटाना मुश्किल था। और वे खुल्लम-खुल्ला रेलवे की हुकूमत का मुक़ाबला करने लगे, जैसाकि पहले कभी न देखा न सुना गया था। वे रेलवे-कर्मचारियों से कहते—'साहब, अब पुराना ज़माना चला गया।' किसके भड़काने से वे बिना टिकट झुण्ड-के-झुण्ड सफर करते थे, मैं नहीं जानता। हाँ, हमने उन्हें ऐसी कोई बात नहीं सुनाई थी। हमने तो अचानक सुना कि वे ऐसा कर रहे हैं। बाद को जब रेलवेवालों ने कड़ाई की, तब यह सिलसिला बन्द होगया।

[illegible] की सर्दी के दिनों में (जब मैं कलकत्ते में कांग्रेस के विशेष

अधिवेशन में गया हुआ था) कुछ मामूली-सी बात पर कुछ किसान-नेता गिरफ्तार कर लिये गये। ख़ास परतावगढ़ में उनपर मुक़दमा चलाया जानेवाला था। लेकिन मुक़दमे के दिन किसानों की एक बड़ी भीड़ से अदालत का हाता भर गया और वहाँसे जेलतक के रास्ते भर एक लाइन बन गयी, जहाँ कि नेता लोग रखे गये थे। मजिस्ट्रेट घबरा गये और उसने मुक़दमा दूसरे दिन के लिए मुल्तवी कर दिया। लेकिन भीड़ बढ़ती गयी और उसने जेल को क़रीब-क़रीब घेर लिया। किसान लोग मुटठी-भर चने खाकर कुछ दिन बड़े मज़े से रह सकते हैं। आख़िर को किसान-नेता छोड़ दिये गये। शायद जेल में उनका मुक़दमा कर दिया गया था। मैं यह तो भूल गया कि यह घटना कैसे हुई, लेकिन किसानों ने उसे अपनी एक बड़ी विजय समझा और वे यह सोचने लगे कि महज़ अपनी भीड़ के बल पर ही हम अपना चाहा करा लिया करेंगे, मगर सरकार के लिए यह स्थिति असह्य थी। और एक ऐसा मौक़ा जल्दी पेश आया; लेकिन उसका अन्त दूसरी तरह हुआ।

१९२१ की जनवरी के आरम्भ की बात है। मैं नागपुर-कांग्रेस से लौटा ही था कि मुझे रायबरेली से तार मिला कि जल्दी आओ, क्योंकि वहाँ उपद्रव की आशंका थी। दूसरे दिन मैं गया। मुझे मालूम हुआ कि कुछ दिन पहले कुछ प्रमुख किसान पकड़े गये थे और वहीं जेल में रखे गये थे। किसानों को परतावगढ़ की सफलता और उस समय जो नीति उन्होंने अख़्त्यार की थी वह याद थी ही। चुनाँचे किसानों की एक बड़ी भीड़ रायबरेली जा पहुँची। मगर इस बार सरकार उन्हें ऐसा नहीं करने देना चाहती थी और इसलिए उसने अतिरिक्त पुलिस और फ़ौज का इन्तज़ाम कर रखा था जो उन्हें आगे न बढ़ने दे। क़स्बे के ठीक बाहर एक छोटी नदी के उस पार किसानों का मुख्य भाग रोक दिया गया। लेकिन फिर भी दूसरी तरफ़ से लोग लगातार चले आ रहे थे। स्टेशन पर आते ही मुझे इस स्थिति की ख़बर मिली और मैं फौरन नदी की तरफ़ गया, जहाँ फ़ौज किसानों का सामना करने के लिए रखी गयी थी। रास्ते में मुझे ज़िला-मजिस्ट्रेट का जल्दी में लिखा एक पुर्ज़ा मिला कि मैं

वापिस लौट जाऊँ। उसीकी पीठ पर मैंने जवाब लिखा और पूछा कि किस क़ानून की किस दफ़ा की रू से मुझे वापस जाने के लिए कहा गया है? और जबतक इसका जवाब नहीं मिलेगा, तबतक मैं अपना काम जारी रखना चाहता हूँ। जैसे ही मैं नदी तक पहुँचा दूसरे किनारे पर से गोलियों की आवाज़ सुनायी दी। मुझे पुल पर ही फ़ौजवालों ने रोक दिया। मैं वहाँ इन्तज़ार कर ही रहा था कि एकाएक कितने ही डरे और घबराये हुए किसानों ने मुझे आ घेरा, जोकि नदी के इस किनारे खेतों में छिप रहे थे। तब मैंने वहाँ उसी जगह कोई दो हज़ार किसानों की सभा करके उनके डर को दूर और उत्तेजना को कम करने की कोशिश की। कुछ क़दम आगे ही एक छोटे नाले के उस पार उनके भाइयों पर गोलियों का बरसना और चारों ओर फ़ौज-ही-फ़ौज दिखाई देना—यह उनके लिए एक असाधारण स्थिति थी। मगर फिर भी सभा बहुत सफलता के साथ हुई, जिससे किसानों का डर कुछ कम हो गया। तब ज़िला-मजिस्ट्रेट उस स्थान से लौटे जहाँसे गोलियाँ चलायी जा रही थीं और उनके अनुरोध पर मैं उनके साथ उनके घर गया। वहाँ उन्होंने किसी-न-किसी बहाने दो घंटे तक मुझे रोक रखा—ज़ाहिर है कि उनका इरादा मुझे किसानों से और शहरों के अपने मित्रों से दूर रखने का था।

बाद को हमें पता चला कि गोली-काण्ड से बहुतेरे आदमी मारे गये। किसानों ने तितर-बितर होने या पीछे हटने से इनकार कर दिया था, मगर यों वे बिलकुल शान्त बने रहे थे। मुझे बिलकुल यक़ीन है कि अगर मैं, या हममें से कोई, जिनपर वे भरोसा रखते थे, वहाँ होते और उन्होंने उनसे कहा होता तो वे ज़रूर वहाँसे हट गये होते। जिन लोगों का वे विश्वास नहीं करते थे, उनका हुक्म मानने से उन्होंने इन्कार कर दिया। किसीने तो दर-असल मजिस्ट्रेट को सुझाया भी था, कि मेरे आने तक कुछ ठहर जावें; किन्तु उन्होंने नहीं सुना। जहाँ वह खुद नाकामयाब हो चुके थे, वहाँ भला वह किसी आन्दोलनकारी को क्यों [illegible] सफल होने दे सकते थे? विदेशी सरकारों का, जिनका कि दारोमदार अपने रोब पर होता है, यह तरीका नहीं हुआ करता है।

रायबरेली के ज़िले में उन्हीं दिनों दो बार किसानों पर गोलियाँ चलीं और उसके बाद तो हरेक प्रमुख किसान-कार्यकर्ता या पंचायत के मेम्बर के लिए मानों डर का राज्य ही फैल गया ! सरकार ने उस आन्दोलन को कुचल डालने का पक्का इरादा कर लिया था। उन दिनों कांग्रेस की प्रेरणा से किसानों के अन्दर चरखा चलाने की प्रवृत्ति हो रही थी। इसलिए चरखा मानों राजद्रोह का प्रतीक हो गया था, और जिसके घर चरखा पाया जाता उसीकी आफ़त आ जाती। चरखे अक्सर जला भी दिये जाते थे। इस तरह सरकार ने सैकड़ों लोगों को गिरफ्तार करके तथा दूसरे तरीक़ों से रायबरेली और परतावगढ़ ज़िले के देहाती इलाक़ों के किसान और कांग्रेस दोनों आन्दोलनों को कुचलने की कोशिश की। ज़्यादातर मुख्य-मुख्य कार्यकर्ता दोनों आन्दोलनों में एक ही थे।

कुछ दिन बाद, १९२१ में फ़ैज़ाबाद ज़िले में दूर-दूर तक दमन का मज़ा चखाया गया। वहाँ एक अनोखे ढंग से झगड़ा खड़ा हुआ। कुछ देहात के किसानों ने जाकर एक ताल्लुक़ेदार का माल-असबाब लूट लिया। बाद को पता लगा कि उन लोगों को एक दूसरे जमींदार के नौकर ने भड़का दिया था, जिसका ताल्लुक़ेदार से कुछ झगड़ा था। उन ग़रीबों से सचमुच यह कहा गया था कि महात्मा गांधी चाहते हैं कि वे लूट लें; और उन्होंने 'महात्मा गांधी की जय !' बोलते हुए इस आदेश का पालन किया।

जब मैंने यह सुना तो मैं बहुत बिगड़ा और दुर्घटना के एक या दो ही दिन में उसी स्थान पर जा पहुँचा, जो अक़बरपुर (फ़ैज़ाबाद जिला) के पास ही था। मैंने उसी दिन एक सभा बुलायी और कुछ ही घण्टों में पाँच-छः हज़ार लोग कई गाँवों से, कोई दस-दस मील की दूरी से वहाँ इकट्ठे हो गये। मैंने उन्हें बुरी तरह आड़े हाथों लिया, कि किस तरह उन्होंने अपने-आपको तथा हमारे काम को धक्का पहुँचाया, और शर्मिन्दगी दिलायी और कहा कि जिन-जिनने लूट-पाट की है, वे सबके सामने अपना गुनाह क़बूल करें। (उन दिनों मैं गांधीजी के सत्याग्रह की स्पिरिट से, जैसा-कुछ मैं उसे समझता था, भरा हुआ था।) मैंने

लोगों से, जो लूट-मार में शरीक थे, हाथ ऊँचा उठाने के लिए , और कहते ताज्जुब होता है कि बीसों पुलिस-अफ़सरों के सामने दर्जन हाथ ऊपर उठ गये। इसके मानी थे यक़ीनन उनपर त आना।

जब उनमें से बहुतेरे लोगों से मैंने एकान्त में बात-चीत की और ने सीधे-सादे ढंग से सुनाया कि किस तरह उन्हें गुमराह किया गया तो मुझे उनकी हालत पर बड़ा दुःख हुआ और इस बात पर अफ़सोस लगा कि मैंने नाहक़ ही इन सीधे-भोले लोगों को लम्बी-लम्बी यें पाने की हालत में रखा। लेकिन जिन लोगों को सज़ा भुगतनी वे दो या तीन दर्जन नहीं थे। सरकार के लिए इतना अच्छा मौक़ा ा कहीं खोने जैसा था? उस ज़िले के किसान-आन्दोलन को कुचलने लिए इस अवसर का पूरा-पूरा फ़ायदा उठाया गया। एक हज़ार से र गिरफ्तारियाँ हुई और ज़िला-जेल ठसाठस भर गयी। कोई एक तक मुक़दमे चलते रहे। कितने ही तो मुक़दमे के दौरान में जेल में मर गये। दूसरे कितनों ही को लम्बी-लम्बी सज़ायें दी गयीं। और ले दिनों जब मैं जेल गया, तो वहाँ उनमें से कुछ से मुलाक़ात हुई । क्या लड़के और क्या जवान, सब अपनी जवानी जेल में काट थे !

भारतीय किसान में टिके रहने की शक्ति बहुत कम है। ज़्यादा दिनों ा मुक़ाबला करने की उसमें ताक़त नहीं रहती। अकालों और बीमा-रों के दौरे में लाखों मर जाते हैं। ऐसी दशा में यह आश्चर्य की बात । कि एक साल भर तक उन्होंने सरकार ज़मींदार दोनों के सम्मिलित ाद का मुक़ाबला करने की ताक़त का परिचय दिया। लेकिन वे -कुछ थकने लग गये थे और सरकार उनके आन्दोलन पर दृढ़ता-से हमले करती रहती थी, जिससे अन्त में उनकी हिम्मत उस समय लिए तो टूट गयी। फिर भी उनका आन्दोलन धीमी रफ़्तार से चलते ा—हाँ, पहले-जैसे बड़े-बड़े प्रदर्शन नहीं होते थे, लेकिन अधिकांश ों से पुराने कार्यकर्त्ता बने रहे थे जिनपर डर का कोई असर न हुआ

था और जो थोड़ा-बहुत काम करते रहे। यहाँ यह याद रखना चाहि
कि यह सब हुआ था कांग्रेस के १९२१ के जेल जाने के कार्य-क्रम क
के पहले। किन्तु इसमें भी किसानों ने, पिछले साल के दमन के बावज़
बहुत-कुछ हाथ बँटाया था।

सरकार किसान-आन्दोलन से डर गयी थी और उसने किसान
सम्बन्धी क़ानून को पास करने की जल्दी की। इसके द्वारा किसानों
हालत सुधरने की आशा हुई थी। किन्तु जब देखा कि आन्दोलन क़ा
में आ चुका है तो उसको नरम बना दिया गया। इसके द्वारा जो मुख
परिवर्त्तन किया गया वह था अवध के किसानों को हीन-हयात ज़मीन प
अधिकार दे देना। यह दिखायी तो दिया था उनके लिए लुभावना, लेकि
अन्त में साबित यह हुआ कि उनकी हालत में उससे कुछ भी सुधा
नहीं हुआ।

अवध में किसानों की हलचलें जब-तब होती रहती थीं, लेकिन छो
पैमाने पर। मगर, १९२१ में जो मन्दी सारे संसार में आयी, उस
चीजों के भाव गिर गये और इसलिए फिर एक संकट-काल आ ख
हुआ।

: १० :

असहयोग

अवध के किसानों की उथल-पुथल का यहाँ कुछ ब्यौरे के साथ मैंने वर्णन किया है, क्योंकि उसने भारत की समस्या पर से परदा उठाकर उसका मूल-स्वरूप मेरे सामने खड़ा कर दिया, जिसपर कि राष्ट्रीय विचारवालों ने शायद ही कुछ ध्यान दिया हो। हिन्दुस्तान के भिन्न-भिन्न भागों में किसानों की हलचलें बार-बार होती रहती हैं, जो कि गहरी अशान्ति के लक्षण हैं। अवध के कुछ हिस्सों में जो किसान-आन्दोलन १९२०-२१ में हुआ वह उसी तरह का था—हालाँकि वह अपने ढंग का निराला था, जिससे कई रहस्य सामने आये। उसकी शुरुआत का सम्बन्ध किसी तरह न तो राजनीति से था, न राजनैतिक पुरुषों से बल्कि शुरू से अखीर तक बाहरी और राजनैतिक लोगों का उसपर कम-से-कम असर था। सारे हिन्दुस्तान की दृष्टि से वह एक मुक़ामी मामला था, और इसलिए उसकी तरफ़ बहुत कम ध्यान दिया गया था। यहाँतक कि संयुक्तप्रांत के अखबारों ने भी उसकी तरफ़ बहुत-कुछ लापरवाही ही दिखायी। उनके सम्पादकों और उनके अधिकांश शहराती पाठकों के लिए अध नंगे किसानों की जमात के इन कामों में कोई असली राजनैतिक या दूसरे प्रकार का महत्त्व न था।

पंजाब और खिलाफ़त-सम्बन्धी अन्यायों की रोज़ चर्चा होती थी और असहयोग, जिसके बल पर उन अन्यायों को दूर करने की कोशिश की जानेवाली थी, लोगों की ज़बान पर एक ही विषय था। सब लोगों का ध्यान इसीमें लगा हुआ था। अलबत्ता शुरू में राष्ट्रीय स्वतन्त्रता के बड़े प्रश्न, यानी स्वराज्य, पर ज्यादा ज़ोर नहीं दिया जाता था। ज्यादातर लोग गोल-मोल और लम्बी-चौड़ी बातों को पसन्द नहीं करते हैं—वे किसी ख़ास और निश्चित बात पर सारी ताक़त लगाना ज्यादा पसन्द करते हैं। फिर भी स्वराज्य की बातें वायु-मण्डल में और

लोगों के दिमाग़ों में बहुत-कुछ घूमती रहती थी, और जगह-जगह
सभा-सम्मेलन होते थे, उनमें बार-बार उनका ज़िक्र आया करता था।
१९२० के सितम्बर में कलकत्ता में कांग्रेस का विशेष अधिवेशन
हुआ—पंजाब और ख़िलाफ़त के और ख़ासकर असहयोग के प्रश्न पर
अपना निर्णय देने के लिए। लाला लाजपतराय उसके सभापति थे, जो
लम्बे अरसे से देश से बाहर रहने के बाद हाल ही अमेरिका से लौटे थे।
उन्हें असहयोग की यह नयी योजना नापसन्द थी और उन्होंने उसका
विरोध किया था। हिन्दुस्तान की राजनीति में वह आम तौर पर गरम-
दल के माने जाते थे, लेकिन उनकी साधारण जीवन-दृष्टि निश्चितरू
से वैध और माडरेट थी। इस सदी के शुरू के दिनों परिस्थिति ने—न
कि हार्दिक विश्वास या इच्छा ने—उन्हें लोकमान्य तिलक तथा दूस
गरम-दलवालों का साथी बना दिया था। लेकिन उनका दृष्टि-कोण
निश्चय ही सामाजिक तथा आर्थिक था, जो कि उनके ज़माने तक विदेशों
में रहने से और भी मज़बूत हो गया था, और उसके उनकी कारण दृष्टि
अधिकांश हिन्दुस्तानी नेताओं की बनिस्बत ज्यादा व्यापक थी।

विल्फ्रेड स्केवन ब्लण्ट ने अपनी 'डायरियों' में गोखले और लालाजी
के साथ हुई मुलाक़ातों (१९०९ के लगभग) का हाल लिखा है। दोन
के बारे में उसने बहुत सख्त लिखा है, क्योंकि उसकी राय में वे बहुत
फूँक-फूँककर चलते थे और वास्तविकता का सामना करते हुए डरते थे।
लेकिन फिर भी लालाजी दूसरे बहुत-से हिन्दुस्तानी नेताओं से कहीं ज्यादा
उनका मुक़ाबला करते थे। ब्लण्ट पर जो छाप पड़ी उससे तो हम य
समझ सकते हैं कि उस समय हमारी राजनीति में हमारे नेताओं क
नाड़ी कितनी धीमी चलती थी और उनका क्या असर एक समर्थ और
अनुभवी विदेशी सज्जन पर पड़ा। लेकिन पिछले बीस बरसों में उनक
नब्ज़ की चाल में बड़ा फ़र्क़ पड़ गया है।

इस विरोध में लाला लाजपतराय अकेले न थे। उनके साथ बड़े-बड़े
और प्रभावशाली लोग भी थे। कांग्रेस के क़रीब-क़रीब सभी पुराने
महारथियों ने गांधीजी के असहयोग-प्रस्ताव का विरोध किया था। देश-

धुदास उस विरोध के अगुवा थे—इसलिए नहीं कि वह उसकी स्पिरिट नापसन्द करते थे : वह तो उस हद तक बल्कि उससे भी आगे जाने तैयार थे—बल्कि ख़ासकर इसलिए कि नई कौंसिलों के बहिष्कार उन्हें ऐतराज़ था।

पुरानी पीढ़ी के बड़े-बड़े नेताओं में एक मेरे पिताजी ही ऐसे थे, जिन्होंने उस समय गांधीजी का साथ दिया। उनके लिए ऐसा करना हँसी-खेल न था। उन पुराने साथियों ने जो-जो ऐतराज़ किये थे उनमें बहुतेरों को वे ठीक समझते थे और उनका उनपर बहुत असर भी हुआ था। उनकी तरह वे भी एक अज्ञात दिशा में एक अजीब नये तरीक़े से आगे बढ़ने में हिचकिचाते थे, जहाँ जाकर किसीके लिए अपने पुराने और तरीक़े क़ायम रखना मुश्किल ही था। फिर भी उनके दिल में एक अनिवार्य कोशिश थी कोई कारगर उपाय करने की और असहयोग के प्रस्ताव में ऐसे निश्चित उपाय की योजना थी, अलबत्ता वह ठीक उसी तरह की न थी जैसी कि पिताजी चाहते थे। पक्का इरादा करने में उन्हें बहुत वक़्त लगा था। बड़ी देर-देर तक उन्होंने गांधीजी और देशबन्धु से बातें की थीं। उन्हीं दिनों संयोग से वह और दासबाबू दोनों बहुत-कुछ एक साथ पड़ गये थे, क्योंकि एक बड़े मुफ़स्सिल मुक़दमे में वे दोनों एक-दूसरे के ख़िलाफ़ पैरवी के लिए खड़े हुए थे। वे दोनों इस मसले को बहुत-कुछ एक ही नुक्ते-निगाह से देखते थे और उनके अन्त के बारे में भी उनका बहुत कम मत-भेद था। फिर भी, वह थोड़ा-सा ही मतभेद उनसे विशेष कांग्रेस के मुख्य प्रस्ताव का परस्पर-विरोधी पक्ष लिवाने के लिए काफ़ी था। तीन महीने बाद वे फिर नागपुर कांग्रेस में मिले, और तबसे आगे चलकर दोनों एकसाथ चलते रहे और एक-दूसरे के अधिक नज़दीक आते चले गये।

उन दिनों, कलकत्ता की विशेष कांग्रेस के पहले, मैं उनको बहुत कम समझ पाया था। परन्तु जब कभी मैं उनसे मिलता, मैंने देखा कि वह बराबर इस समस्या का मुक़ाबला करने में लगे रहते थे। इस सवाल के राष्ट्रीय स्वरूप के अलावा उसका ज़ाती पहलू भी था। असहयोग के

मानी होते थे उनका वकालत छोड़ देना, जिसके मानी होते थे उनका अपने पुराने जीवन से बिलकुल नाता तोड़ लेना और एक बिलकुल नये जीवन में अपनेको ढालना—यह कोई आसान बात नहीं थी, खासकर उस समय जब कि कोई अपनी साठवीं वर्षगाँठ मनाने की तैयार कर रहा हो। पुराने राजनैतिक साथियों से, अपने पेशे से, उस सामाजिक जीवन से जिसके वह अब आदी थे, सबसे ताल्लुक तोड़ना था और कितनी ही ख़र्चीली आदतों को छोड़ देना था, जो अबतक पड़ी हुई थीं। फिर रुपये और ख़र्च-वर्च का सवाल भी कम महत्त्व का न था, और यह ज़ाहिर था कि अगर वकालत की आमदनी चली गयी तो उन्हें अपने रहन-सहन का स्टैंडर्ड बहुत कम करना होगा।

लेकिन उनकी बुद्धि, उनका ज़बरदस्त स्वाभिमान, और उनका गर्व—ये सब मिलाकर उन्हें एक-एक क़दम नये आन्दोलन की तरफ़ बढ़ाते गये, यहाँतक कि अन्त में वह सोलहों आना उसमें कूद पड़े। उन कई घटनाओं से, जिनका अन्त पंजाब-काण्ड में हुआ, और उसके बाद जो-कुछ हुआ उससे उनके दिल में जो गुस्सा भरता जा रहा था उसको, जो अन्याय या अत्याचार वहाँ हुए थे उनकी याद को, और जो राष्ट्रीय अपमान हुआ उसकी कटुता को बाहर निकलने का कोई मार्ग चाहिए था। लेकिन वह महज़ उत्साह की लहर में बह जानेवाले न थे। उन्होंने आख़िरी फ़ैसला तभी किया और गांधीजी के आंदोलन में तभी कूदे जब उनके दिमाग़ ने, और एक मँजे हुए वकील के दिमाग़ ने, सारा आगा-पीछा अच्छी तरह सोच लिया।

गांधीजी के व्यक्तित्व की तरफ़ वह खिचे थे और इसमें कोई शक नहीं कि इस बात ने भी उनके निर्णय पर असर डाला था। जिस शख़्स को वह नापन्द करते थे उससे उनका साथ कोई भी शक्ति नहीं करा सकती थी, क्योंकि उनकी रुचि और अरुचि दोनों बड़ी तेज होती थीं। लेकिन यह मिलाप था अनोखा—एक तो साधु, संयमी, धर्मात्मा, जीवन के आनन्द-विलास और शारीरिक सुखों को लात मारनेवाला, और दूसरा कुछ भोग-प्रिय जिसने जीवन के कितने ही आनन्दों का स्वागत

और उपभोग किया और इस बात की बहुत कम परवा की कि परलोक में क्या होगा ! मनोविश्लेषण-शास्त्र की भाषा में कहें तो यह एक अन्तर्मुख का एक बहिर्मुख के साथ मिलाप था। फिर भी उन दोनों में एक प्रेम-बन्धन और एक हित-सम्बन्ध था जिसने दोनों को एक-दूसरे की तरफ़ खींचा और बाँध रखा--यहाँतक कि जब आगे चलकर दोनों की राजनीति में अन्तर पड़ गया तब भी दोनों में गाढ़ी मित्रता रही।

वाल्टर पेण्टर ने अपनी एक किताब में बताया है कि कैसे एक साधु और एक शौकीन, एक धार्मिक प्रकृति का और दूसरा उसके विरुद्ध स्वभाव का, परस्पर विरोधी स्थानों से शुरू करके, भिन्न-भिन्न रास्तों से सफर करते हुए, पर फिर भी दोनों ऐसी जीवन-दृष्टि रखते हुए जो अपने उत्साह और सरगर्मियों में औरों से उच्च और उदार रहती है, अक्सर एक-दूसरे को ज़्यादा अच्छी तरह समझते और पहचानते हैं--बनिस्बत इसके कि उनमें से हरेक दुनिया के किसी साधारण मनुष्य को समझें और पहचानें--और कभी-कभी तो वे दरअसल एक-दूसरे के हृदय को स्पर्श भी करते हैं।

कलकत्ता के विशेष-अधिवेशन ने कांग्रेस की राजनीति में गांधीयुग को शुरू किया, जो तब से अबतक क़ायम है--हाँ, बीच में एक छोटा-सा ज़माना (१९२२ से १९२९ तक) ज़रूर ऐसा गया जिसमें उन्होंने अपने आपको पीछे रख लिया था और स्वराज्य-पार्टी को, जिसके नेता देशबन्धुदास और मेरे पिताजी थे, अपना काम करने दिया था। तब से कांग्रेस की सारी दृष्टि ही बदल गयी; विलायती कपड़े चले गये और देखते-देखते सिर्फ खादी-ही-खादी दिखायी देने लगी; कांग्रेस में नये क़िस्म के लोग--प्रतिनिधि--दिखायी देने लगे, जो ख़ास करके मध्यम-वर्ग की निचली श्रेणी के थे। हिन्दुस्तानी, और कभी-कभी तो उस प्रान्त की भाषा जहाँ अधिवेशन होता था, अधिकाधिक बोली जाने लगी, क्योंकि कितने ही डेलीगेट (प्रतिनिधि) अंग्रेजी नहीं जानते थे। राष्ट्रीय कामों में विदेशी भाषा का व्यवहार करने के खिलाफ़ भी लोगों के भाव तेजी से बढ़ रहे थे, और कांग्रेस की सभाओं में साफ़ तौर पर एक नयी

जिन्दगी, नया जोश, और सरगर्मी दिखायी देती थी।

अधिवेशन खत्म होने के बाद गांधीजी 'अमृत बाजार पत्रिका' के जबरदस्त सम्पादक श्री मोतीलाल घोष से मिलने गये, जोकि मृत्यु-शय्या पर पड़े हुए थे। मैं उनके साथ गया था। मोतीबाबू ने गांधीजी के आन्दोलन को आशीर्वाद दिया और कहा—'मैं तो अब दूसरी दुनिया में जा रहा हूँ। मैं, और तो क्या कहूँ, कहीं भी जाऊँ, मुझे एक बात का बहुत संतोष है कि वहाँ ब्रिटिश साम्राज्य न होगा—अब मैं इस साम्राज्य की पहुँच के परे हो जाऊँगा!'

कलकत्ता से लौटते समय मैं गांधीजी के साथ रवीन्द्रनाथ ठाकुर और उनके अति प्यारे बड़े भाई 'बड़ो दादा' से मिलने शान्तिनिकेतन गया। वहाँ कुछ दिन रहे। मुझे याद है कि चार्ली एण्डरूज ने कुछ किताबें मुझे दी थीं, जो मुझे दिलचस्प मालूम हुईं थीं और जिसका मुझ पर बहुत असर भी पड़ा था। उनका विषय था अफ्रीका में ब्रिटिश साम्राज्य से हुई आर्थिक हानि। इनमें से मॉरेल की लिखी एक किताब—ब्लैकमेन्स बर्डन—की मेरे दिलपर बहुत गहरी छाप पड़ी थी।

इन्हीं दिनों या इसके कुछ दिन बाद, एण्ड्रूज साहब ने एक पुस्तिका लिखी, जिसमें हिन्दुस्तान के लिए स्वाधीनता की पैरवी की गयी थी। मैं समझता हूँ कि उसका नाम था—'इंडिपेंडेन्स—दि इमीजिएट नीड'। यह एक बहुत ऊँचे दर्जे का निबन्ध था, जो कि सिली के हिन्दुस्तान-विषयक कुछ लेखों और पुस्तकों के आधार पर लिखा गया था। और मुझे ऐसा लगा कि उसमें स्वाधीनता का प्रतिपादन इतनी अच्छी तरह किया गया है कि उसका कोई जवाब नहीं हो सकता—यही नहीं, बल्कि मुझे वह मेरे हार्दिक भावों का चित्र खींचती हुई मालूम हुई। उसकी भाषा बड़ी सीधी-सादी और सरगर्मी लिये हुए थी। उसमें मानों हमारे दिल को हिला देनेवाली गहरी प्रेरणायें और अधखिली अभिलाषायें साफ़ तौर पर मूर्त बनती दिखायी दीं। न तो वह आर्थिक आधार पर लिखी गयी थी और न उसमें साम्यवाद ही था; उसमें शुद्ध राष्ट्रीयता, हिन्दुस्तान की जिल्लत के प्रति मन में सहानुभूति और इससे छुटकारा

पाने की और बरसों के हमारे इस अधःपतन का खात्मा कर देने की जबरदस्त ख्वाहिश थी। यह कितनी विचित्र बात है कि एक विदेशी, और सो भी वह जो हमपर हुकूमत करनेवाली जाति का है, हमारे अन्तस्तल की पुकार को इस तरह प्रतिध्वनित करे! असहयोग तो, जैसा कि शेली ने बहुत पहले कह दिया है, "यह भावना है कि हमारे लिए विदेशियों को अपनी हुकूमत हमपर जमाये रखने में सहायता पहुँचाना शर्मनाक है।" और एण्ड्रूज ने लिखा है—"आत्मोद्धार का एक ही मार्ग है कि अपने अन्दर से कोई जबरदस्त हलचल—उभाड़—पैदा हो। ऐसे उभाड़ के लिए जिस बारूद की जरूरत है वह खुद हिन्दुस्तान की रूह में ही पैदा होनी चाहिए। वह बाहर से किसीके देने, माँगने, मिलने, ऐलान करने और रिआयतें देने से नहीं आ सकती। वह अपने अन्दर से ही आनी चाहिए।·········इसलिए जब मैंने देखा कि ऐसी ही आन्तरिक शक्ति, वह बारूद, दर असल भक् से धड़ाका कर चुकी है—जब महात्मा गांधी ने भारत के हृदय में मन्त्र फूँका—'आजाद हो जाओ, गुलाम मत बने रहो,' और हिन्दुस्तान की हृत्तन्त्री उसी स्वर में झनझना उठी—तो मेरे मन और आत्मा उस असह्य बोझ से छुटकारा पाने की खुशी से नाच उठे। एक आकस्मिक हलचल के साथ उसकी बेड़ियाँ ढीली हुई और आजादी का रास्ता खुल गया।"

अगले तीन मास में सारे देश भर में असहयोग की लहर बढ़ती चली गयी। नयी कौन्सिलों का बहिष्कार करने की जो अपील की गयी थी उसमें आश्चर्यजनक सफलता मिली। यह बात नहीं कि सभी लोग वहाँ जाने से रुक गये, या रुक सकते थे, और इस तरह तमाम सीटें खाली रखी जा सकती थीं। बल्कि मुट्ठीभर वोटर भी चुनाव कर सकते थे और अविरोध चुनाव भी हो सकता था। लेकिन हाँ, यह सच है कि अधिकांश वोटर—मतदाता—वोट देने नहीं गये, और वे सब उम्मीदवार जिन्हें देश की पुकार का खयाल था, कौन्सिलों के लिए खड़े नहीं हुए। चुनाव के दिन सर वेलेन्टाइन शिरोल दैवयोग से इलाहबाद में थे और चुनाव के मुक़ामों पर खुद देखने गये थे। वह बायकाट की सफलता को

देखकर दंग रह गये। एक देहाती चुनाव-स्टेशन पर, जो कि इलाहाबाद शहर से पन्द्रह मील दूर था, उन्होंने देखा कि एक भी वोटर वोट देने नहीं गया था। हिन्दुस्तान पर लिखी अपनी एक पुस्तक में उन्होंने अपने इस अनुभव का वर्णन किया है।

यद्यपि देशबन्धु दास तथा दूसरे लोगों ने कलकत्ता-अधिवेशन में बहिष्कार की उपयोगिता पर सन्देह प्रकट किया था, तो भी आखिर को उन्होंने कांग्रेस के फ़ैसले को माना। चुनाव हो जाने के बाद मतभेद भी दूर हो गया और नागपुर कांग्रेस (१९२०) में फिर बहुत से पुराने कांग्रेसी नेता असहयोग के मञ्च पर आकर मिल गये। उस आन्दोलन की कामयाबी ने बहुतेरे डाँवाडोल और सन्देह रखनेवालों को क़ायल कर दिया था।

फिर भी, कलकत्ता के बाद, कुछ पुराने नेता कांग्रेस से पीछे हट गये, जिनमें एक मशहूर और लोकप्रिय नेता थे श्री जिन्ना। सरोजिनी नायडू ने उन्हें 'हिन्दू-मुस्लिम एकता का राजदूत' कहा था और पिछले दिनों में उन्हींकी बदौलत मुस्लिम-लीग का कांग्रेस के नजदीक आना बहुतः कुछ मुमकिन हुआ था, मगर कांग्रेस ने बाद में जो रूप धारण किया—असहयोग को तथा अपने नये विधान को अपनाया, जिससे वह ज़्यादातर जनता का संगठन बन गयी, वह उन्हें क़तई नापसन्द था। उनके मतभेद का कारण यों तो राजनैतिक बताया गया था, परन्तु वह मुख्यतः राजनैतिक न था। उस समय की कांग्रेस में ऐसे बहुत-से लोग थे जो राजनैतिक विचारों में जिन्ना साहब से पीछे ही थे। पर बात यह है कि कांग्रेस के इस नये रंग-रूप से उनका स्वभाव मेल नहीं खाता था। उस खादीधारी भब्भड़ में, जो हिन्दुस्तानी में व्याख्यान देने का मतालबा करती थी, वह अपने को बिलकुल बेमेल पाते थे। बाहर लोगों में जो जोश था वह उन्हें पागलों की उछल-कूद-सा मालूम होता था। उनमें और भारतीय जनता में उतना ही फ़र्क़ था जितना कि सेवाइल रो, बॉण्ड स्ट्रीट में और झोंपड़ोंवाले हिन्दुस्तानी गाँवों में है। एक बार उन्होंने खानगी में सुझाया था कि सिर्फ़ मैट्रिक पास ही कांग्रेस में लिये जावें।

हीं कह सकता कि उन्होंने दरअसल सर्जीदगी के साथ ही यह बात
यी थी। परन्तु यह सच है कि वह उनके साधारण दृष्टिकोण के
फिक़ ही थी। इस तरह वह कांग्रेस से दूर चले गये और हिन्दुस्तान
राजनीति में अकेले-से पड़ गये। दुःख की बात है कि आगे जाकर
ता का यह पुराना एलची उन प्रतिगामी लोगों में मिल गया, जो
मानों में बहुत ही सम्प्रदायवादी थे।

माडरेटों या यों कहें कि लिबरलों का तो कांग्रेस से कोई ताल्लुक़
न रहा था। वे उससे सिर्फ़ दूर ही नहीं हट गये, बल्कि सरकार में
मिल गये। नयी योजना के अन्दर मिनिस्टर और बड़े-बड़े अफ़सर बने
असहयोग तथा कांग्रेस का मुक़ाबला करने में सरकार की मदद की।
जो-कुछ चाहते थे, क़रीब-क़रीब सब उन्हें मिल गया था—यानी कुछ
र दे दिये गये थे, और इसलिए अब उन्हें किसी आन्दोलन की जरूरत
ी। सो, एक ओर देश जहाँ जोश-ख़रोश से उबल रहा था, और
धिक क्रान्तिकारी बनता जा रहा था, तहाँ वे खुले आम क्रान्ति-
थी, खुद सरकार के एक अंग बन गये। वे लोगों से कटकर बिलकुल
जा पड़े और तबसे हर मसले को हाकिमों के दृष्टि-बिन्दु से देखने
उनको आदत पड़ गयी, जो अबतक क़ायम है। सच्चे अर्थ में उनकी
कोई पार्टी नहीं रह गयी है—सिर्फ़ चन्द लोग रह गये हैं सो भी
बड़े-बड़े शहरों में।

फिर भी यह न समझिए कि लिबरल लोग निश्चिन्त थे। खुद अपने
लोगों से कटकर अलहदा पड़ जाना, जहाँ दुश्मनी नहीं दिखायी या
यी देती हो वहाँ भी दुश्मनी समझना कोई आनन्ददायी अनुभव नहीं
जा सकता। जब सारी जनता उमड़ उठती है तो वह अपने से
हदा रहनेवालों के प्रति मेहरबान नहीं रह सकती। हालाँकि गांधीजी
बार-बार की चेतावनियों ने असहयोग को मुख़ालिफ़ों के लिए उससे
अधिक मृदुल और सौम्य बना दिया था जितना कि दूसरी हालत
ह हो सकता था। लेकिन फिर भी महज उस वायुमण्डल ने ही
का दम बन्द कर दिया था जो उनका विरोध करते थे, जिस तरह

कि वह उन लोगों को बल और स्फूर्ति देता था और उनमें जीवन
कार्य-शक्ति का सञ्चार करता था, जो कि उसके हामी थे। जन
उभाड़ और सच्चे क्रान्तिकारी आन्दोलनों के हमेशा ऐसे दोहरे
होते हैं; वे उन लोगों को जो जनता में से होते हैं या जो उनकी
हो जाते हैं, उत्साहित करते हैं और उनको आगे लाते हैं, और सा
उन लोगों के विचारों को दबाते हैं और उनको पीछे हटा देते
उनसे मतभेद रखते हैं।

यही कारण है जो कुछ लोगों की यह शिकायत थी कि असहय
तो सहनशीलता का अभाव है और उससे अन्धे की तरह एकसी रा
और एकसे काम करने की प्रवृत्ति पैदा होती है। इस शिकायत में स
तो थी, लेकिन वह थी इस बात में कि असहयोग जनता का एक अ
लन था और उसका अगुआ था ऐसा ज़बर्दस्त शख़्स जिसे हिन्दुस्ता
करोड़ों लोग भक्ति-भाव से देखते थे। मगर इससे भी गहरी सच्चा
थी जनता पर हुए उसके असर में। ऐसा अनुभव होता था मानों किस
से या बोझ से वह छुटकारा पा गयी हो और आज़ादी का एक नया
आ गया हो! जिस भय से वह अबतक दबी और कुचली जा रह
वह पीछे हट गया था और उसकी कमर सीधी और सिर ऊँचा हो
था। यहाँतक कि दूर-दूर के बाज़ारों में भी राह चलते लोग
और स्वराज की (क्योंकि नागपुर-कांग्रेस ने स्वराज को अपना ध्येय
लिया था), पंजाब की घटनाओं की तथा ख़िलाफ़त की बातें करते
लेकिन 'ख़िलाफ़त' शब्द के अजीब मानी देहात के लोग समझते
लोग समझते थे कि यह 'ख़िलाफ़' से बना है और इसलिए वे इसके
करते थे 'सरकार के ख़िलाफ़'! हाँ, वे अपने ख़ास-ख़ास आर्थिक
पर भी बात-चीत करते थे। बेशुमार सभायें और सम्मेलन हुए
उनसे उनमें बहुत-कुछ राजनैतिक शिक्षा फैली।

हममें से बहुत लोग जो कांग्रेस-कार्यक्रम को पूरा करने में ल
थे, १९२१ में मानों एक क़िस्म के नशे में मतवाले हो रहे थे।
जोश, आशावाद और उछलते हुए उत्साह का ठिकाना न था। हमें

आनन्द और सुख का स्वाद आता था जैसा किसी शुभ काम के लिए धर्म-युद्ध करनेवाले को होता है। हमारे मन में न शंकाओं के लिए जगह थी, न हिचक के लिए; हमें अपना रास्ता अपने सामने बिलकुल साफ़ दिखाई देता था, और हम आगे बढ़ते चले जाते थे, दूसरों के उत्साह से उत्साहित होते तथा दूसरों को और आगे धक्का देते थे। हमने जी-जान लगाकर काम करने में कोई बात उठा न रक्खी, इतनी बड़ी मेहनत हमने कभी न की थी; क्योंकि हम जानते थे कि सरकार से मुक़ाबला शीघ्र ही होनेवाला है, और सरकार हमें उठाकर अलग कर दे, इससे पहले हम ज्यादा-से-ज्यादा काम कर डालना चाहते थे।

इन सब बातों से बढ़कर हमारे अन्दर आज़ादी का और आज़ादी के गर्व का भाव आ गया था। यह पुराना भाव कि हम दबे हुए हैं और हमें कामयाबी नहीं हो सकती, बिलकुल चला गया था। अब न तो डरसे काना-फूँसी होती थी और न गोल-मोल क़ानूनी भाषा इस्तैमाल की जाती थी, कि जिससे अधिकारियों के साथ झगड़ा मोल लेने से अपनेको बचाया जा सके। हम वही करते थे जो हम मानते थे और महसूस करते थे, और उसे खुल्लमखुल्ला डंके की चोट कहते थे। हमें उसके नतीजे की क्या परवा थी? जेल? उसकी हम राह ही देख रहे थे। उससे तो हमारे उद्देश्य-सिद्धि में मदद ही पहुँचानेवाली थी। बेशुमार भेदिया और खुफ़िया पुलिस के लोग हमें घेरे रहते थे और हम जहाँ जाते वहाँ साथ रहते थे। उनकी हालत दयाजनक हो गयी थी; क्योंकि हमारे पास उनके पता लगाने के लिए कोई छिपी बात ही न थी। हमारी सारी बाज़ी खुली थी।

हमको इस बात का ही सिर्फ़ संतोष न था कि हम एक सफल राजनैतिक काम कर रहे हैं, जिससे हमारी आँखों के सामने भारत की तसवीर बदलती जा रही है, और जो, जैसा कि हमारा विश्वास था, हिन्दुस्तान की आज़ादी बहुत नजदीक आ रही थी। बल्कि हमारे अन्दर एक नैतिक उच्चता का भाव भी पैदा हो गया था कि हमारे साध्य और साधन दोनों हमारे मुख़ालिफ़ों के मुक़ाबले में अच्छे और ऊँचे हैं। हमें अपने नेता पर और उसके बनाये लासानी तरीक़े पर फ़ख्र था और कभी-

कभी हम अपने को सत्पुरुष मानने का दावा करने लगते थे। लड़ाई के जारी होते हुए भी और हमारे खुद उसमें लिप्त होते हुए और उसे बढ़ावा देते हुए भी एक आन्तरिक शान्ति का अनुभव होता था।

ज्यों-ज्यों हमारा नैतिक तेज, हमारा सत्त्व, बढ़ता गया, त्यों-त्यों सरकार का तेज घटता गया। उसकी समझ में नहीं आता था कि यह हो क्या रहा है। ऐसा जान पड़ता था कि हिन्दुस्तान में उनकी परिचित पुरानी दुनिया एकाएक ढहे जा रही है। दूर-दूर तक एक नयी आक्रामक स्पिरिट और आत्मावलम्बन और निर्भयता के भाव फैल रहे हैं और भारत में ब्रिटिश हुकूमत का बहुत बड़ा सहारा—रौब—सरेदस्त गिरता जा रहा है। थोड़ा-थोड़ा दमन करने से आन्दोलन उलटा बढ़ता जाता था और सरकार बहुत देर तक बड़े-बड़े नेताओं पर हाथ डालने से हिचकती ही रही। वह नहीं जानती थी कि इसका नतीजा आखिर क्या होगा। हिन्दुस्तानी फ़ौज पर भरोसा रखा जा सकता है या नहीं? पुलिस हमारे हुक्मों पर अमल करेगी या नहीं? दिसम्बर १९२१ में लार्ड रीडिंग ने तो कही दिया था कि हम 'हैरान और परेशान हो रहे हैं।'

१९२१ की गर्मियों में युक्तप्रान्त की सरकार की ओर से जिला-अफ़सरों के नाम एक मज़ेदार गुप्त गश्ती-चिट्ठी भेजी गयी थी। वह बाद को एक अखबार में भी छप गयी थी। उसमें दुःख के साथ यह कहा गया था कि इस आन्दोलन में प्रारम्भिक सूत्र हमेशा दुश्मन यानी कांग्रेस के हाथों में है, और प्रारम्भिक सूत्र सरकार के हाथों में आ जाय, इसके लिए उसमें तरह-तरह के उपाय बताये गये थे, जिनमें एक था निकम्मी 'अमन सभाओं' को क़ायम करना। यह माना जाता था कि असहयोग से लड़ने का यह तरीक़ा लिबरल मिनिस्टरों का सुझाया हुआ था।

कितने ही ब्रिटिश अफ़सरों के होश-हवास गुम होने लगे थे। दिमाग़ी परेशानी कम न थी। दिन-दिन प्रबल होनेवाला विरोध और हुकूमत का मुक़ाबला करने की स्पिरिट हाकिमों के सिर पर घने मानसूनी बादलों की तरह मँडरा रहे थे; परन्तु फिर भी चूँकि कांग्रेस के साधन शांतिमय थे, उन्हें उसका मुक़ाबला करने, उसपर हावी होने या ज़ोर के साथ

दवाने का कोई मौक़ा नहीं मिलता था। औसत दर्जे के अंग्रेज इस बात नहीं मानते थे, कि हम कांग्रेसी सच्चे दिल से अहिंसा चाहते हैं। वे मानते थे कि यह सब धोखा-धड़ी है—किसी गहरी छिपी साज़िश को छिपाने का बहाना-मात्र है, जो किसी-न-किसी दिन एक हिंसात्मक उत्पात के रूप में फूट पड़नेवाली है। अंग्रेज़ों को बचपन से ही यह सिखाया जाता है कि पूरब एक रहस्यमय देश है, और वहाँके बाज़ारों और तंग गलियों में दिन-रात छिपी साज़िशें होती रहती हैं। इसलिए वे इन रहस्यमय समझे जानेवाले देशों के मामलों को सीधा नहीं देख सकते। वे पूरब के पुरुष को जो सीधा-सादा और रहस्य से ख़ाली है, समझने की कभी कोशिश ही नहीं करते। वे उससे एक दूरी पर ही रहते हैं। उसके बारे में जो-कुछ ख़याल बनाते हैं वे भेदिया और ख़ुफ़िया पुलिस के द्वारा मिली भली-बुरी ख़बरों के आधार पर बनाते हैं, और फिर उसके सम्बन्ध में अपनी कल्पना की उड़ान को खुला छोड़ देते हैं। अप्रैल १९१९ के शुरू में पंजाब में ऐसा ही हुआ। अधिकारियों में और आम तौर पर अंग्रेज़ लोगों में एकाएक दहशत फैल गयी। उन्हें हर जगह ख़तरा-ही-ख़तरा, एक बग़ावत, एक दूसरा ग़दर जिसमें भयानक मारकाट हो, दिखायी देने लगा और हर सूरत में आँखें मूँदकर आत्म-रक्षा की इस वृत्ति ने उनसे वे-वे भयंकर काण्ड करा डाले, जिनके अमृतसर का जलियाँवाला-बाग़ और रेंगनेवाली गली ये प्रतीक और दूसरे नाम हो गये।

१९२१ का साल बड़ी तनातनी का साल था, और उसमें बहुत-सी ऐसी बातें हुईं जिनसे हाकिमों को चिढ़ने, बिगड़ने और घबराने या डरने की गुंजाइश थी। जो कुछ दर-असल हो रहा था वह तो बुरा था परन्तु जो-कुछ ख़याल कर लिया गया वह उससे भी बुरा था। मुझे एक घटना याद है, जिससे इस कल्पना की घुड़दौड़ का नमूना मिल जायगा। मेरी बहन सरूप की शादी इलाहाबाद में दस मई १९२१ को होनेवाली थी। देसी तिथि के हिसाब से पंचांग में शुभ-दिन देखकर यह तारीख़ मुक़र्रर की गयी थी। गांधीजी तथा दूसरे कांग्रेसियों को, जिनमें अली-बन्धु भी थे, निमंत्रण दिया गया था, और उनकी सुविधा का ख़याल

करके उसी समय के आस-पास कार्य-समिति की भी बैठक इलाहाबाद
रख ली गयी थी। स्थानिक कांग्रेसी चाहते थे कि बाहर से आये
नामी-नामी नेताओं की मौजूदगी से फ़ायदा उठाया जाय और इसलि
उन्होंने बड़े पैमाने पर एक ज़िला-कान्फरेन्स का आयोजन किया। उ
उम्मीद थी कि आस-पास के देहात के किसान लोग बहुत बड़ी ताद
आ जायँगे।

इन राजनैतिक सभाओं की बदौलत इलाहाबाद में ख़ूब चहल-प
और जोश छाया हुआ था। इससे कुछ लोगों के दिलों में अजीब घबड़ा
छा गयी। एक रोज़ एक बैरिस्टर-दोस्त से मैंने सुना कि इस आयोजन
कितने ही अंग्रेज़ों के होश ठिकाने न रहे और उन्हें डर हो गया कि श
में एकाएक कोई बवंडर खड़ा हो जानेवाला है। हिन्दुस्तानी नौकरों
से उनका विश्वास हट गया और वे अपनी जेब में पिस्तौल रखने लगे
खानगी में यहाँतक कहा गया कि इलाहाबाद का क़िला इस बात के लि
तैयार रखा गया था कि ज़रूरत पड़ने पर तमाम अंग्रेज़ों को पनाह
लिए वहाँ भेज दिया जाय। मुझे यह सुनकर बड़ा ताज्जुब हुआ और
बात को समझ न सका कि कोई क्यों इलाहाबाद जैसे सोये हुए
शान्तिमय शहर में ऐसे किसी बवंडर का अन्देशा रक्खे, खासकर उ
समय जब कि खुद अहिंसा का दूत ही वहाँ आरहा हो। ओफ़! य
तक कहा गया कि दस मई, (और इत्तिफ़ाक़ से यही तारीख़ मेरी ब
की शादी की नियत हो गयी) १८५७ को मेरठ में जो ग़दर शुरू हु
था उसीका सालाना जलसा करने की ये तैयारियाँ हो रही हैं।

१९२१ में ख़िलाफ़त-आन्दोलन को बहुत प्रधानता दी गयी थी, इ
कितने ही मौलवी और मुसलमानों के मज़हबी नेताओं ने इस राजनैति
लड़ाई में बड़ा हाथ बँटाया था। उन्होंने इस हलचल पर एक निश्चि
मज़हबी रंग चढ़ा दिया था और मुसलमान लोग आम तौर पर उ
बहुत प्रभावित हुए थे। बहुत-से पश्चिमी रंग में रँगे हुए मुसलमान
जिनका कोई खास झुकाव मज़हब की तरफ़ नहीं था, डाढ़ी रखने त
शरीयत के दूसरे फ़रमानों की पाबन्दी करने लगे थे। बढ़ते हुए पश्चि

असर के और नये ख़यालात के सवव से मौलवियों का जो असर और रौव घटता जा रहा था वह फिर वढ़ने और मुसलमानों पर अपनी धाक जमाने लगा। अली-भाइयों ने भी, जो खुद भी मजहवी तवीयत के आदमी थे, और इसी तरह गांधीजी ने भी, इस सिलसिले को और ताक़त दी, जो मौलवी और मौलानाओं को वहुत ही इज्जत दिया करते थे।

इसमें कोई शक नहीं कि गांधीजी वरावर आन्दोलन के धार्मिक और आध्यात्मिक पहलू पर ज़ोर दिया करते थे। उनका धर्म रूढ़ियों से जकड़ा हुआ न था, परन्तु उसकी यह मंशा जरूर थी कि जीवन को देखने की दृष्टि धार्मिक हो। और इसलिए सारे आन्दोलन पर उसका वहुत प्रभाव पड़ा था तथा, जहाँतक जनता से ताल्लुक़ है, वह उसे एक पुनरुद्धार का आन्दोलन मालूम होता था। कांग्रेस के वहुसंख्यक कार्यकर्त्ता स्वभावतः अपने नेता का अनुकरण करने लगे और कितने ही तो उनकी तरह भाषा भी वोलने लगे। और फिर भी कार्य-समिति में गांधीजी के मुख्य-मुख्य साथी थे—मेरे पिताजी, देशवन्धुदास, लाला लाजपतराय और दूसरे लोग—जो साधारण अर्थ में धार्मिक पुरुष न थे, और राजनैतिक मसलों को राजनैतिक कक्षा में ही रखकर विचार करते थे। अपने व्याख्यानों और वक्तव्यों में वे धर्म को नहीं लाया करते थे। मगर वह जो कुछ कहते थे उससे उनके प्रत्यक्ष उदाहरण का ज्यादा असर होता था—क्योंकि उन्होंने वह सव वहुत-कुछ छोड़ दिया, जिसको दुनिया क़ीमती समझती है, और पहले से ज्यादा सादी रहन-सहन अख्त्यार कर ली। त्याग खुद ही धर्म का एक चिन्ह समझा जाता है और इसने भी पुनरुद्धार के वायु-मण्डल को फैलाने में मदद की।

राजनीति में, क्या हिन्दू और क्या मुसलमान दोनों तरफ़ धार्मिकता की इस वढ़ती से कभी-कभी मुझे परेशानी होती थी। मुझे वह विलकुल पसन्द न थी। मौलवी, मौलाना और स्वामी तथा ऐसे ही दूसरे लोग जो-कुछ अपने भाषणों में कहते उसका अधिकांश मुझे वहुत कुफल पैदा करनेवाला मालूम होता था। उसका सारा इतिहास, सारा समाज-शास्त्र और अर्थशास्त्र मुझे ग़लत दिखायी देता था और हर चीज़ को जो

मज़हबी मरोड़ दी जाती, उससे स्पष्ट विचार करना रुक जाता था। कुछ-कुछ तो गांधीजी के भी शब्द-प्रयोग मेरे कानों को खटकते थे— जैसे 'रामराज्य', जिसे वह फिर लाना चाहते हैं। लेकिन उस समय मुझमें दखल देने की शक्ति न थी, और मैं इसी ख़याल से तसल्ली कर लिया करता था कि गांधीजी ने उनका प्रयोग इसलिए किया है कि इन शब्दों को सब लोग जानते हैं और जनता इन्हें समझ लेती है। उनमें जनता के हृदय तक पहुँच जाने की विलक्षण स्वभाव-सिद्ध कला है।

लेकिन मैं इन बातों की झञ्झट में ज्यादा नहीं पड़ता था। मेरे पास काम इतना ज्यादा था और हमारे आन्दोलन की प्रगति इस तेज़ी से हो रही थी कि ऐसी छोटी-छोटी बातों की परवा करने की ज़रूरत न थी, क्योंकि उस समय मैं उन्हें वैसा ही न-कुछ समझता था। किसी बड़े आन्दोलन में हर क़िस्म के लोग रहते हैं, और जबतक हमारी असली दिशा सही है, कुछ भँवरों और चक्करों से कुछ बिगड़ नहीं सकता। और ख़ुद गांधीजी को लें, तो वह ऐसे शख़्स थे जिन्हें 'समझना बहुत मुश्किल था। कभी-कभी तो उसकी भाषा औसत दर्जे के आधुनिक आदमी की समझ में प्रायः नहीं आती थी। लेकिन हम यह मानते थे कि हम उन्हें इतना ज़रूर अच्छी तरह समझ गये हैं कि वह एक महान और अद्वितीय पुरुष और तेजस्वी नेता हैं और जबकि हमने उनपर कम-से-कम उस समय तो श्रद्धा रखी थी, तो मानों हमने कोरे काग़ज़ पर ही दस्त-ख़त करके उनके हवाले कर दिया था। अक्सर हम आपस में उनके इन ख़ब्तों और विचित्रताओं की चर्चा किया करते थे और कुछ-कुछ दिल्लगी में कहा करते थे कि जब स्वराज्य आ जायेगा, तब इन ख़ब्तों को इस तरह आगे न चलने देंगे।

इतना होने पर भी हममें से बहुत-से लोग राजनैतिक तथा दूसरे मामलों में उनके इतने प्रभाव में थे कि धर्म-क्षेत्र में भी बिल्कुल आज़ाद बने रहना असम्भव था। जहाँ सीधे हमले से कामयाबी की उम्मीद न थी, वहाँ ज़रा चक्कर खाकर जाने से बहुत हद तक प्रभाव पड़े बिना न रहता। धर्म के बाहरी आचार कभी मेरे दिल में जगह न कर पाये,

र सबसे बड़ी बात तो यह कि मुझे इन धार्मिक कहलानेवाले लोगों के
रा जनता का चूसा जाना बहुत नापसन्द था, मगर फिर भी मैंने धर्म
प्रति नरमी अख़्यार कर ली थी। अपने ठेठ बचपन से लेकर किसी
समय की बनिस्बत १९२१ में मेरा मानसिक झुकाव धर्म की तरफ़
ादा हुआ था। लेकिन तब भी मैं उसके बहुत नज़दीक नहीं पहुँचा था।
जिस का मैं आदर करता था वह तो था उस आन्दोलन का नैतिक
र सदाचार-सम्बन्धी पहलू और सत्याग्रह। मैंने अहिंसा के सिद्धान्त
सोलहों आने नहीं मान लिया था, या हमेशा के लिए नहीं अपना
या था, लेकिन हाँ, वह मुझे अपनी तरफ़ अधिकाधिक खींचता चला
ता था और यह विश्वास मेरे दिल में पक्का बैठता जाता था कि
न्दुस्तान की जैसी परिस्थिति बन गयी है, हमारी जैसी परम्परा और
से संस्कार हैं उन्हें देखते हुए यही हमारे लिए सही नीति है। राजनीति
आध्यात्मिकता के—तंग और मज़हबी मानी में नहीं—साँचे में
लना मुझे एक उम्दा ख़याल मालूम हुआ। निस्सन्देह एक उच्च ध्येय
पाने के लिए साधन भी वैसे ही उच्च होने चाहिएँ—यह एक अच्छा
ति-सिद्धान्त ही नहीं, बल्कि भ्रमरहित व्यावहारिक राजनीति भी थी;
कि जो साधन अच्छे नहीं होते, वे अक्सर हमारे उद्देश्य को ही विफल
ा देते हैं और नयी समस्यायें और नयी दिक्क़तें पैदा कर देते हैं। और
ी दशा में, एक व्यक्ति या एक क़ौम के लिए, ऐसे साधनों के सामने
र झुकाना—दलदल में से गुजरना, कितना बुरा, कितना स्वाभिमान
गिरानेवाला मालूम होता था! उससे अपने को कलुषित किये बिना
ई कैसे बच सकता था? अगर हम सिर झुकाते हैं, या पेट के बल
ते हैं, तो कैसे हम अपने गौरव को क़ायम रखते हुए तेजी के साथ
गे बढ़ सकते हैं?

उस समय मेरे विचार ऐसे थे। और असहयोग-आन्दोलन ने मुझे
ह चीज़ दी कि जो मैं चाहता था—क़ौमी आज़ादी का ध्येय और
जैसा मैंने समझा) निचले दर्जे के लोगों के शोषण का अन्त कर देना,
ार ऐसे साधन जो मेरे नैतिक भावों के मुआफ़िक़ थे और जिन्होंने मुझे

व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का भान कराया। यह व्यक्तिगत संतोष मु
इतना ज़्यादा मिला कि नाकामयाबी के अन्देशे की भी मैं ज़्यादा परव
न करता था, क्योंकि ऐसी असफलता तो थोड़े समय के लिए ही हो सक
थी। भगवद्गीता के आध्यात्मिक भाग को मैं न तो समझा था और
उसकी तरफ़ मेरा खिंचाव ही हुआ था, लेकिन हाँ, उन श्लोकों को पढ़
पसन्द करता था, जो शाम को गांधीजी के आश्रम में प्रार्थना के सम
पढ़े जाते थे, और जिनमें यह बताया गया है कि मनुष्य को कैसा हो
चाहिए: शान्त, स्थिर, गंभीर, अचल, निष्काम भाव से कर्म करनेवा
और फल के विषय में अनासक्त। मैं खुद बहुत शान्त-स्वभाव या अना
सक्त नहीं हूँ, इसीलिए शायद यह आदर्श मुझे अच्छा लगा होगा।

: ११ :

पहली जेल-यात्रा

१९२१ का साल हमारे लिए एक असाधारण वर्ष था। राष्ट्रीयता और राजनीति और धर्म, भावुकता और धर्मान्धता का एक अजीब मिश्रण हो गया था। इस सबकी तह में किसानों की अशान्ति और बड़े शहरों का बढ़ता हुआ मज़दूरवर्गीय आन्दोलन था। राष्ट्रीयता और अस्पष्ट, किन्तु देशव्यापी ज़बर्दस्त आदर्शवाद ने इन सब भिन्न-भिन्न और कभी-कभी परस्पर-विरोधी असन्तोषों को मिला देने का प्रयत्न किया, और इसमें बड़ी हद तक कामयाबी भी मिली। परन्तु इस राष्ट्रीयता को कई शक्तियों से बल मिला था। उसकी तह में थी हिन्दू राष्ट्रीयता, मुस्लिम राष्ट्रीयता, जिसका ध्यान कुछ-कुछ हिन्दुस्तान की सीमा के बाहर भी खिंचा हुआ था, और हिन्दुस्तानी राष्ट्रीयता, जो ज़माने की स्पिरिट के अधिक अनुकूल थी। उस समय ये सब एक-दूसरे में मिल-जुलकर साथ-साथ चलने लगी थीं। हर जगह 'हिन्दू-मुसलमान की जय' थी। यह देखने लायक़ बात थी कि किस तरह गांधीजी ने सब वर्गों और सब गिरोहों के लोगों पर जादू-सा डाल दिया था, और उन सबको एक दिशा में चलनेवाला एक पचरंगी दल बना लिया था। वास्तव में वह 'लोगों की धुँधली अभिलाषाओं का एक मूर्त रूप' (जो वाक्य कि एक-दूसरे ही नेता के विषय में कहा गया है) बन गये थे।

इससे भी ज्यादा निराली बात यह थी कि ये सब अभिलाषायें और उमंगें उन विदेशी हाकिमों के प्रति घृणा-भाव से कहीं मुक्त थीं, जिनके ख़िलाफ़ वे इस्तैमाल हो रही थीं। राष्ट्रीयता मूल में ही एक विरोधरूपी भाव है, और यह जीता और पनपता है दूसरे राष्ट्रीय समुदायों के, ख़ासकर किसी शासित देश के विरोधी शासकों के ख़िलाफ़ घृणा और क्रोध के भावों पर। १९२१ में हिन्दुस्तान में ब्रिटिश लोगों के ख़िलाफ़ घृणा और क्रोध ज़रूर था, मगर इसी हालतवाले दूसरे मुल्कों के मुक़ाबले

में यह निहायत ही कम था। इसमें शक नहीं कि यह बात हुई है गांधीजी के अहिंसा के रहस्य पर ज़ोर देते रहने के कारण ही। इसका यह भी कारण था कि सारे देश में आन्दोलन चालू होने के साथ ही यह भावना आ गयी थी कि हमारे बन्धन टूट रहे हैं, हमारा बल बढ़ रहा है, और नज़दीक भविष्य में कामयाब हो जाने का व्यापक विश्वास पैदा हो गया था। जब हमारा काम अच्छी तरह चल रहा हो और जब हम जल्दी ही सफल हो जानेवाले हों तो नाराज़ होने और नफ़रत करने से फ़ायदा ही क्या है ? हमें लगा कि उदार बनने में हमारा कुछ बिगाड़ नहीं।

मगर हमारे अपने ही कुछ देशवासियों के प्रति, जो हमारे ख़िलाफ़ हो गये थे और राष्ट्रीय आन्दोलन का विरोध करते थे, हम अपने दिलों में इतने उदार नहीं थे, हालाँकि जो-जो काम हम करते थे और ख़ूब आगा-पीछा सोचकर करते थे, उनके प्रति घृणा या क्रोध का तो कोई सवाल ही न था, क्योंकि उनकी कोई वक़त नहीं थी, और हम उनकी उपेक्षा कर सकते थे। मगर हमारे दिल की गहराई में उनकी कमज़ोरी, समय-साधुता तथा उनके द्वारा राष्ट्रीय सम्मान और स्वाभिमान के गिरा दिये जाने के कारण हिक़ारत भरी हुई थी।

इस तरह हम चलते रहे---अस्पष्टता से, किन्तु उत्कटता के साथ, और हम इस आनन्द में मस्त थे कि हमने अपना हथियार चला दिया है। मगर लक्ष्य के बारे में तो स्पष्ट विचार का बिल्कुल अभाव था। अब तो इस बात पर ताज्जुब ही होता है कि हमने सैद्धान्तिक पहलुओं को, अपने आन्दोलन के बुनियादी उसूलों को, और जिस निश्चित चीज़ को हमें प्राप्त करना है उसे, किस बुरी तरह से भुला दिया था। बेशक, हम स्वराज के बारे में बहुत बढ़-चढ़कर बातें करते थे, मगर शायद हर व्यक्ति जैसा चाहता वैसा उसका मतलब निकाला करता था। ज्यादातर नवयुवकों के लिए तो इसका मतलब था राजनैतिक आज़ादी या ऐसी ही कोई चीज़, और लोकतन्त्री ढंग की शासन-प्रणाली, और यही बात हम अपने सार्वजनिक भाषणों में कहा करते थे। बहुत लोगों ने यह भी सोचा था कि इससे लाज़मी तौर पर मज़दूरों और किसानों के वे बोझे

नके तले वे कुचले जा रहे हैं हल्के हो जायेंगे। मगर यह ज़ाहिर था हमारे ज़्यादातर नेताओं के दिमाग़ में स्वराज का मतलब आज़ादी बहुत छोटी चीज़ थी। गांधीजी इस विषय पर एक अजीब तौर पर ास्पष्ट रहते थे और इस बारे में साफ़ विचार कर लेनेवालों को वह ावा नहीं देते थे। मगर हाँ, हमेशा अस्पष्टता से ही किन्तु निश्चित ा से, पददलित लोगों को लक्ष्य करके बोला करते थे, और इससे हम ियों को बड़ी तसल्ली होती थी, हालाँकि उसीके साथ वह ऊँची णीवालों को भी कई प्रकार के आश्वासन दे डालते थे। गांधीजी का ार किसी सवाल को बुद्धि से समझने पर कभी नहीं होता था, बल्कि रित्रबल और पवित्रता पर रहता था; और उन्हें हिन्दुस्तान के लोगों ा दृढ़ता और चरित्रबल देने में आश्चर्यजनक सफलता मिली भी। फिर ा ऐसे बहुत-से लोग थे, जिनमें न अधिक दृढ़ता बढ़ी, न चरित्रबल ा, मगर जो समझ बैठे थे कि ढीला-ढाला शरीर और कुम्हलाया हुआ हरा ही पवित्रता की प्रतिपूर्ति है।

जनता की यह असाधारण चुस्ती और मज़बूती ही हममें विश्वास भर ी थी। हिम्मत हारे, पिछड़े और दबे हुए लोग अचानक अपनी कमर ाधी और सिर ऊँचा करके चलने लगे और एक देशव्यापी, सुनियंत्रित ौर सम्मिलित उपाय में जुट पड़े! हमने समझा कि इस उपाय से ही नता को अदम्य शक्ति मिल जायगी। मगर उपाय के साथ उसके ुलस्थ विचार की आवश्यकता का ख़याल हमने छोड़ दिया। हमने ुला दिया कि एक ज्ञानपूर्वक निश्चित विचार-प्रणाली और उद्देश्य के बना, जनता की शक्ति और उत्साह बहुत-कुछ धुँधुआकर रह जायगा। किसी हदतक हमारे आन्दोलन में धर्म-जाग्रति के बल ने हमें आगे ़ाया। और वह यह भावना थी कि राजनैतिक या आर्थिक आन्दोलनों े लिए या अन्यायों को दूर करने के लिए अहिंसा का प्रयोग करना क नया ही सन्देश है, जो हमारा राष्ट्र संसार को देगा। सभी जातियों और सभी राष्ट्रों में जो यह विचित्र मिथ्याविश्वास फैल जाता है कि हमारी ही जाति एक विशेष प्रकार से संसार में सबसे ऊँची है, उसीमें

हम फँस गये थे। अहिंसा, युद्ध या सब प्रकार की हिंसात्मक लड़ाइयों में, शस्त्रास्त्रों के बजाय एक नैतिक शस्त्र का काम दे सकती है। यह एक कोरा नैतिक उपाय ही नहीं, बल्कि रामबाण भी है। मेरे ख़याल से, शायद ही कोई मशीन और वर्तमान सभ्यता-विषयक गाँधीजी के पुराने विचारों से सहमत था। हम समझते थे कि खुद वह भी इन विचारों को कल्पना-सृष्टि या मनोराज्य और वर्तमान परिस्थितियों में ज्यादातर अव्यवहार्य समझते होंगे। निश्चय ही, हममें से ज्यादातर लोग तो आधुनिक सभ्यता की नियामतों को त्यागने को तैयार न थे, हालाँकि हमें चाहे यह महसूस हुआ हो कि हिन्दुस्तान की परिस्थिति के मुताबिक उनमें कुछ परिवर्तन कर देना ठीक होगा। खुद मैं तो बड़ी मशीनरी और तेज़ सफ़र को हमेशा पसन्द करता रहा हूँ। फिर भी इसमें सन्देह नहीं हो सकता कि गांधीजी के आदर्श का बहुत लोगों पर असर पड़ा और वह मशीनों और उनके सब परिणामों को तोलने-जोखने लगे। इस तरह, कुछ लोग तो भविष्यकाल की तरफ़ देखने लगे और दूसरे कुछ भूतकाल की तरफ़ निगाह डालने लगे। और कुतूहल की बात यह है कि दोनों ही तरह के लोगों ने सोचा कि हम जिस सम्मिलित उपाय में लगे हुए हैं वह मिलकर करने ही योग्य है, और इसी स्पिरिट के बदौलत खुशी-खुशी बलिदान करना और आत्मत्याग के लिए तैयार होना आसान हो गया।

मैं आन्दोलन में दिलोजान से जुट पड़ा और दूसरे बहुत-से लोगों ने भी ऐसा ही किया। मैंने अपने दूसरे कामकाज और सम्बन्ध, पुराने मित्र, पुस्तकें और अख़बारतक, सिवा उस हदतक कि जितना उनका चालू काम से ताल्लुक था, सब छोड़ दिये। हाँ, उस समय तक प्रचलित किताबों को कुछ-कुछ पढ़ना क़ायम रक्खा था और संसार में क्या-क्या घटनायें घटती जाती हैं इसको जाननें की कोशिश करता था। मगर अब तो इसके लिए वक़्त ही नहीं था। हालाँकि पारिवारिक मोह ज़बर-दस्त था, मगर मैं अपने परिवार, अपनी पत्नी, अपनी बेटी, सबको क़रीब-क़रीब भूल ही गया था। बहुत अरसे के बाद मुझे मालूम हुआ

क उन दिनों में उनकी कितनी कठिनाई और कितने कष्टों का कारण
न गया था, और मेरी पत्नी ने मेरे प्रति कितने विलक्षण धीरज और
हनशीलता का परिचय दिया था। दफ्तर और कमिटी की मीटिंगें और
लोगों की भीड़ें ही मानो मेरा घर बन गया था। "गाँवों में जाओ"
ही सबकी आवाज़ थी, और हम कोसों खेतों में चलकर जाते थे, दूर-
र के गांवों में पहुँचते थे, और किसानों की सभाओं में भाषण देते थे।
रोम-रोम में जनता की सामूहिक भावना का और जनता को प्रभावित
रने की शक्ति का अनुभव करता था। मैं कुछ-कुछ भीड़ की मनोभावना,
शहर की जनता और किसानों के फ़र्क़ को समझने लगा, और मुझे धूल
और तकलीफ़ों और बड़े-बड़े मजमों के धक्कम-धक्कों में मज़ा आने लगा,
हालांकि उनमें अनुशासन के न होने से मैं अक्सर चिढ़ जाता था। उसके
बाद तो कभी-कभी मुझे विरोधी और क्रोधित मजमों के सामने भी जाना
पड़ा है, जिनकी तेज़ी इतनी बढ़ी हुई थी कि एक चिनगारी भी उन्हें
भड़का सकती थी, और शुरू के तजुर्बे से और उससे उत्पन्न आत्म-विश्वास
से मुझे बड़ी मदद मिली। मैं हमेशा विश्वास के साथ सीधा मजमे के
सामने जाता। अभी तक तो उसने मेरे प्रति सद्व्यवहार और गुण-
ग्राहकता का ही परिचय दिया है। चाहे हममें मतभेद ही रहा हो।
मगर मजमों के स्वभाव का कुछ कह नहीं सकते, सम्भव है भविष्य में
मुझे कुछ और ही अनुभव मिलें।

मैं मजमों को अपना समझता था और मजमे मुझे अपना लेते थे,
मगर उनमें मैं अपने-आपको भुला नहीं देता था। मैं अपनेको उनसे
हमेशा अलग ही समझता रहा। मैं अपनी अलग मानसिक स्थिति में
उन्हें समीक्षक-दृष्टि से देखता था, और मुझे ताज्जुब होता था कि मैं
जो कि अपने आसपास जमा होनेवाले इन हज़ारों आदमियों से हर बात
में भिन्न था, अपनी आदतों में, इच्छाओं में, मानसिक और आध्यात्मिक
दृष्टिकोण में बहुत भिन्न था, इन लोगों की सदिच्छा और विश्वास
कैसे हासिल कर सका? क्या इसका सबब यह तो नहीं था कि इन लोगों
ने मुझे मेरे मूल स्वरूप से कुछ जुदा समझ लिया? जब वे मुझे ज्यादा

पहचानने लगेंगे, क्या तब भी वे मुझे चाहेंगे ? क्या मैं लम्बी-चौ
बातें बना-बनाकर उनकी सदिच्छा प्राप्त कर रहा हूँ ? मैंने उनके साम
सच्ची और खरी बातें कहने की कोशिश की, कभी-कभी मैंने उनसे सख़
से बातचीत की और उनके कई प्रिय विश्वासों और रीतियों की नुक़्त
चीनी की, फिर भी वे मेरी इन सब बातों को बरदाश्त कर लेते थे
मगर मेरा यह विचार न हटा कि उनका मुझपर प्रेम, मैं जैसा कुछ
उसके लिए नहीं, बल्कि मेरी बाबत उन्होंने जो-कुछ सुन्दर कल्पना क
ली थी उसके कारण था। यह झूठी कल्पना कितने समय तक टिकी र
सकती थी ? और वह टिकी रहने भी क्यों दी जाय ? जब उनकी व
कल्पना झूठी निकलेगी और उन्हें असलियत मालूम होगी, तब क्या होगा ?

मुझमें तो कई तरह का अभिमान है, मगर मजमों के इन भोले-भा
लोगों में तो ऐसे किसी अभिमान का कोई सवाल ही नहीं हो सकता
उनमें कोई दिखावा न था, और न कोई आडम्बर ही था, जैसा
मध्यम वर्ग के कई लोगों में, जो अपने को उनसे अच्छा समझते हैं, हो
है। हाँ, वे जड़ बेशक थे और व्यक्तिगत रूप से ऐसे न थे कि उन
कोई दिलचस्पी ले; मगर समुदाय-रूप में उनको देखकर तो अस
करुणा का भाव पैदा होता और उनके आनेवाले दु:खान्त जीवन का दृ
आँखों के सामने खड़ा हो जाता था।

मगर हमारी कान्फ्रेन्सों का तो, जहाँ हमारे चुने हुए कार्यकर
(जिनमें मैं भी शामिल था) व्याख्यान-मंच पर अपना करतब दिखाते
हाल ही दूसरा था। वहाँ काफ़ी दिखावा होता था, और हमारे धुँआध
भाषणों में आडम्बर की कोई कमी न थी। हममें से सभी थोड़े-बहुत इ
मामले में कुसूरवार रहे होंगे, मगर ख़िलाफ़त के कई छोटे नेता तो इस
सबसे ज्यादा बढ़े हुए थे। जहाँ बहुत लोग जमा हों उनके सामने व्या
ख्यान-मंच पर स्वाभाविक बर्ताव रखना आसान नहीं है; और इस त
लोगों के सामने आने का पहले किसीको तजुर्बा भी न था। इसलि
हमारे ख़याल के मुताबिक नेताओं को जैसे रहना चाहिए उसी तरह
हम अपने-आपको विचार-पूर्ण और गंभीर, चंचलता और छिछोरपन

बिलकुल बरी, दिखाते थे। जब हम चलते, या बात करते या हँसते थे, तो हमें यह ख़याल रहता था कि हज़ारों आँखें हमें घूर रही हैं और उसी को ध्यान में रखते हुए हम सब-कुछ करते थे। हमारे भाषण अक्सर बड़े छटादार होते थे, मगर अक्सर वे ज्यादातर बेमुद्दा भी होते थे। दूसरे लोग हमको जैसा देखते हैं उसी तरह अपने-आपको देखना मुश्किल ही है। इसलिए जब मैं अपने-आपको टीका की दृष्टि से न देख सका, तो मैंने दूसरों के तर्जे-अमल पर ग़ौर करना शुरू किया, और इस काम में मुझे ख़ूब मज़ा आया और फिर यह भयंकर खयाल भी आता था कि शायद मैं भी दूसरों को इतना ही वाहियात दिखाई देता होऊँगा।

१९२१ भर कांग्रेस-कार्यकर्ताओं की व्यक्तिगत गिरफ्तारी और सज़ायाबी होती रही, मगर मजमूई गिरफ्तारियाँ नहीं हुई। अली-बन्धुओं को हिन्दुस्तानी फ़ौज में असन्तोष पैदा करने के लिए लम्बी-लम्बी सज़ायें दी गयी थी। जिन शब्दों के लिए उन्हें सज़ा मिली थी, उनको सैकड़ों व्याख्यान-मंचों से हज़ारों आदमियों ने दोहराया। अपने कुछ भाषणों के कारण राजद्रोह का मुक़दमा चलाये जाने की धमकी मुझे गर्मियों में दी गयी थी। मगर उस वक़्त ऐसी कोई कार्रवाई नहीं की गयी। साल के अख़ीर में मामला अज़हद बढ़ गया। युवराज हिन्दुस्तान आनेवाले थे, और उनकी आमद के मुताल्लिक़ की जानेवाली तमाम कार्रवाइयों का बहिष्कार करने की घोषणा कांग्रेस ने कर दी थी। नवम्बर के अख़ीर तक बंगाल में कांग्रेस के स्वयंसेवक ग़ैरक़ानूनी क़रार दे दिये गये, और फिर युक्तप्रान्त के लिए भी ऐसी ही घोषणा निकल गयी। देशबन्धु दास ने बंगाल को एक बड़ा जोशीला संदेश दिया—"मैं महसूस कर रहा हूँ कि मेरे हाथों में हथकड़ियाँ पड़ी हुई हैं और मेरा सारा शरीर लोहे की वज़नी जंजीरों ने जकड़ा हुआ है। यह है गुलामी की वेदना और यन्त्रणा। अरे सारा हिन्दुस्तान एक बड़ा जेलखाना ही हो गया है! कांग्रेस का काम हर हालत में जारी रहना चाहिए—इसकी परवा नहीं कि मैं पकड़ लिया जाऊँ या खुला रहूँ; इसकी पर्वाह नहीं कि मैं मर जाऊँ या ज़िन्दा रहूँ।" यू० पी० में भी हमने सरकार की चुनौती को स्वीकार

कर लिया। हमने न सिर्फ़ यही ऐलान किया कि हमारा स्वयंसेवक-संगठन क़ायम रहेगा, बल्कि दैनिक अख़बारों में अपने स्वयंसेवकों की नामावलियाँ भी छपवा दीं। पहली फ़हरिस्त में सबसे ऊपर मेरे पिता का नाम था। वह स्वयंसेवक तो नहीं थे, मगर सिर्फ़ सरकार की हुक्म-उदूली करने के लिए ही वह शामिल हो गये थे और उन्होंने अपना नाम दे दिया था। दिसम्बर के शुरू ही में, हमारे प्रान्त में युवराज के आने के कुछ ही दिन पहले, सामूहिक गिरफ्तारियाँ शुरू हुई।

हमने जान लिया कि आखिर अब तो पासा पड़ चुका है; कांग्रेस और सरकार का अनिवार्य संघर्ष अब होने ही वाला था। अभीतक भी जेल एक अपरिचित जगह थी और वहाँ जाना भी एक नयी बात थी। एक दिन मैं इलाहाबाद के कांग्रेस-दफ्तर में ज़रा देर तक बक़ाया काम निपटा रहा था। इतने ही में एक क्लर्क ज़रा उत्तेजित होता हुआ आया और उसने कहा कि पुलिस तलाशी का वारण्ट लेकर आयी है, और दफ्तर के मकान को घेर रही है। निःसन्देह मैं भी थोड़ा अस्तव्यस्त तो हो गया, क्योंकि मेरे लिए भी इस तरह की यह पहली ही बात थी, मगर दृढ़ दिखाई देने की इच्छा, पूरी तरह शान्त और निश्चिन्त प्रतीत होने तथा पुलिस के आने और जाने से प्रभावित न होने की अभिलाषा प्रबल थी। इसलिए मैंने एक क्लर्क से कहा कि जब पुलिस-अफ़सर दफ्तर के कमरों में तलाशी ले तो तुम उसके साथ-साथ रहो, और बाक़ी के कार-कुनों से कहा कि सब अपना-अपना काम बिला खरखशा करते रहो और पुलिस की तरफ़ ध्यान न दो। कुछ देर के बाद एक मित्र और एक साथी कार्यकर्त्ता, जो दफ्तर के बाहर ही गिरफ्तार कर लिये गये थे, एक पुलिस-मैन के साथ, मेरे पास मुझसे विदा लेने आये। मुझे इन नयी घटनाओं को मामूली घटनायें समझना चाहिए, यह अभिमान मुझमें इतना भर गया था कि मैं अपने साथी कार्यकर्त्ता के साथ बिलकुल रुखाई से पेश आया। उनसे और पुलिस-मैन से मैंने कहा कि मैं जबतक अपनी चिट्ठी, जिसे मैं लिख रहा था, पूरी न कर लूँ, तबतक ज़रा ठहरे रहें। जल्दी ही शहर में और भी लोगों के गिरफ्तार होने की ख़बर आयी।

ख़िरकार मैंने यह तय किया कि मैं घर जाऊँ और देखूँ कि वहाँ क्या रहा है। वहाँ भी सर्वव्यापी पुलिस के दर्शन हुए। वह हमारे उस लम्बे-ड़े घर के एक हिस्से की तलाशी ले रही है और मालूम हुआ कि ताजी और मुझे दोनों को गिरफ्तार करने आयी है।

युवराज के आगमन के बहिष्कार-सम्बन्धी कार्य-क्रम के लिए हमारा र कोई कार्य इतना उपयुक्त न होता। युवराज जहाँ-जहाँ गये, वहाँ-हाँ उन्हें हड़तालें और सूनी सड़क ही मिली। जब वह इलाहाबाद ाये, तो वह एक सुनसान शहर मालूम पड़ा। कुछ दिनों बाद कलकत्ता भी कुछ समय के लिए अचानक अपना सारा कारोबार बन्द कर दिया। युवराज के लिए यह सब एक मुसीबत थी। मगर उनका कोई सूर न था, और न उनके ख़िलाफ़ कोई दुर्भावना थी। हाँ, हिन्दुस्तान सरकार ने अलबत्ता उनके व्यक्तित्व का बेजा फ़ायदा उठाने की शिश की थी, इसलिए कि अपनी गिरती हुई प्रतिष्ठा को बनाये ब सके।

इसके बाद तो ख़ासकर युक्तप्रान्त और बंगाल में गिरफ्तारियों और सजाओं की धूम मच गयी। इन प्रान्तों में सभी ख़ास-ख़ास कांग्रेसी नेता और काम करनेवाले पकड़ लिये गये, और मामूली स्वयंसेवक तो हज़ारों की तादाद में जेल गये। शुरू-शुरू में ज़्यादातर शहर के ही लोग थे, और जेल जाने के लिए स्वयंसेवकों की तादाद मानों ख़त्म ही न होती थी। युक्तप्रान्तीय कांग्रेस-कमिटी के लोग सब-के-सब (५५ व्यक्ति), जब वे कमिटी की एक मीटिंग कर रहे थे, एकसाथ गिरफ्तार कर लिये गये। कई ऐसे लोगों को भी, जिन्होंने अभीतक कांग्रेस या राजनैतिक हलचल में कोई हिस्सा नहीं लिया था, जोश चढ़ आया, और वे गिरफ्तार होने की ज़िद करने लगे। ऐसी भी मिसालें हुई कि कुछ सरकारी क्लर्क, जो शाम को दफ्तर से लौट रहे थे, इसी जोश में बह गये, और घर के बजाय जेल में जा पहुँचे। नवयुवक और बच्चे पुलिस की लारियों के भीतर घुस जाते थे और बाहर निकलने से इन्कार कर देते थे। हम जेल के अन्दर से, शाम-की-शाम, अपने परिचित नारे

और आवाज़ें सुनते थे, जिनसे हमें पता लगता था कि बाहर पुलिस की लारियों-पर-लारियाँ आ रही हैं। जेलें भर गयी थीं, और जेल-अफ़सर इस असाधारण बात से परेशान हो गये थे। कभी-कभी ऐसा भी होता था कि लारी के साथ जो वारण्ट आता था उसमें सिर्फ़ लाये जानेवालों की तादाद ही लिखी रहती थी, नाम नहीं लिखे होते थे या न लिखे जा सकते थे। और वास्तव में लिखी तादाद से भी ज्यादा व्यक्ति लारी में से निकलते थे, तब जेल-अधिकारी यह नहीं समझ पाते थे कि इस अजीब परिस्थिति में क्या करना चाहिए, जेल-मैनुअल में इसकी बाबत कोई हिदायत नहीं थी।

धीरे-धीरे सरकार ने हर किसीको गिरफ्तार कर लेने की नीति छोड़ दी; सिर्फ़ ख़ास-ख़ास कार्यकर्त्ता चुनकर पकड़े जाने लगे। धीरे-धीरे लोगों के उत्साह की पहली बाढ़ भी उतर गयी, और सभी भरोसे के कार्यकर्ताओं के जेल चले जाने से अनिश्चय और असहायता की भावना फैल गयी। परन्तु यह सब क्षणिक ही था। वातावरण में तो बिजली भरी हुई थी और चारों ओर गड़गड़ाहट हो रही थी। ऐसा जान पड़ता था कि अन्दर-ही-अन्दर क्रान्ति की तैयारी हो रही है। दिसम्बर १९२१ और जनवरी १९२२ में, यह अनुमान किया जाता है कि, कोई ३० हज़ार आदमियों को असहयोग के सम्बन्ध में सजायें मिलीं। मगर हालाँकि ज्यादातर प्रमुख व्यक्ति और काम करनेवाले जेल चले गये, इस सारी लड़ाई के नेता महात्मा गांधी फिर भी बाहर थे, जो रोज़ाना लोगों को अपने संदेश देते और हिदायतें जारी करते रहते थे, जिनसे लोगों को स्फूर्ति मिलती थी और कई अवाञ्छनीय बातें होने से बच जाती थीं। सरकार ने उनपर अभीतक हाथ नहीं डाला था, क्योंकि उसे डर था कि शायद इसका नतीजा ख़राब हो और कहीं हिन्दुस्तानी फ़ौज और पुलिस बिगड़ न उठे!

अचानक १९२२ की फ़रवरी के शुरू में ही सारा दृश्य बदल गया, और जेल में ही हमने बड़े आश्चर्य और भय के साथ सुना कि गांधीजी ने सविनय भंग की लड़ाई रोक दी और सत्याग्रह मुल्तवी कर दिया है।

हमने पढ़ा कि यह इसलिए किया गया कि चौरीचौरा नामक गाँव के पास लोगों की एक भीड़ ने बदले में पुलिस-स्टेशन में आग लगा दी थी और उसमें क़रीब आधे दर्जन पुलिसवालों को जला डाला था।

जब हमें मालूम हुआ कि ऐसे वक़्त में जब कि हम अपनी स्थिति मज़बूत करते जा रहे थे और सभी मोर्चों पर आगे बढ़ रहे थे, हमारी लड़ाई बन्द करदी गयी है, तो हम बहुत बिगड़े। मगर हम जेलवालों की मायूसी और नाराज़गी से हो ही क्या सकता था? सत्याग्रह बन्द हो गया; और उसके साथ ही. असहयोग भी जाता रहा। कई महीनों की दिक़्क़त और परेशानी के बाद सरकार को आराम की साँस मिली, और पहली बार उसे अपनी तरफ़ से हमला शुरू करने का मौक़ा मिला। कुछ हफ़्तों बाद उसने गांधीजी को गिरफ्तार कर लिया और उन्हें एक लम्बी क़ैद की सजा दे दी।

: १२ :

अहिंसा और तलवार का न्याय

चौरीचौरा-कांड के बाद हमारे आन्दोलन के एकाएक मुल्तवी किये जाने से, मेरा ख़याल है, गांधीजी को छोड़कर कांग्रेस के बाक़ी तमाम नेताओं में बहुत ही नाराज़गी फैली थी। मेरे पिताजी जो उस वक़्त जेल में थे, उसपर बहुत ही बिगड़े थे। कुदरतन् नौजवान कांग्रेसियों को तो यह बात और भी ज्यादा बुरी लगी थी। हमारी बढ़ती हुई उम्मीदें धूल में मिल गयीं। इसलिए उसके ख़िलाफ़ इतनी नाराज़गी का फैलना स्वाभाविक ही था। आन्दोलन के मुल्तवी किये जाने से जो तकलीफ़ हुई उससे भी ज्यादा तकलीफ़ मुल्तवी करने के जो कारण बताये गये उनसे तथा उन कारणों से पैदा होनेवाले नतीजों से हुई। हो सकता है कि चौरीचौरा एक खेदजनक घटना हो, वह थी भी खेद-जनक और अहिंसात्मक आन्दोलन के भाव के बिलकुल ख़िलाफ़, लेकिन क्या हमारी आज़ादी की राष्ट्रीय लड़ाई कम-से-कम कुछ वक़्त के लिए महज़ इसलिए बन्द हो जाया करेगी कि कहीं बहुत दूर के किसी कोने में पड़े गाँव में किसानों की उत्तेजित भीड़ ने कोई हिंसात्मक काम कर डाला? अगर इस तरह अचानक ख़ून-ख़राबी का यही ज़रूरी नतीजा होना है, तब तो इस बात में कोई शक नहीं कि अहिंसात्मक लड़ाई के शास्त्र और उसके मूल सिद्धान्त में कुछ कमी है; क्योंकि हम लोगों को इसी तरह की किसी-न-किसी अनचाही घटना के न होने की गारन्टी करना गैरमुमकिन मालूम होता था। क्या हमारे लिए यह लाज़िमी है कि आज़ादी की लड़ाई में आगे क़दम रखने से पहले हम हिन्दुस्तान के तीस करोड़ से भी ज्यादा लोगों को अहिंसात्मक लड़ाई का उसूल और उसका अमल सिखा दें, और, यही क्यों, हममें ऐसे कितने हैं जो यह कह सकते हैं कि पुलिस से बहुत ज़्यादा उत्तेजना मिलने पर भी हम लोग पूरी तरह शान्त रह सकेंगे? लेकिन अगर हम इसमें कामयाब भी हो जायें, तो जो बहुत-से भड़कानेवाले

एजेन्ट और चुगलखोर वग़ैरा हमारे आन्दोलन में आ घुसते हैं, और या तो खुद ही कोई मारकाट कर डालते हैं या दूसरों से करा देते हैं, उनका क्या होगा ? अगर अहिंसात्मक लड़ाई के लिए यही शर्त रही कि वह तभी चल सकती है जब कहीं कोई जरा भी खून-ख़राबी न करे, तब तो अहिंसात्मक लड़ाई हमेशा असफल ही रहेगी।

हम लोगों ने अहिंसा के तरीक़े को इसलिए मंजूर किया था, और कांग्रेस ने भी इसीलिए उसे अपनाया था कि हमें यह विश्वास था कि वह तरीक़ा कारगर है। गांधीजी ने उसे मुल्क के सामने महज़ इसीलिए नहीं रखा था कि वह सही तरीक़ा है, बल्कि इसलिए भी कि हमारे मतलब के लिए वह सबसे ज्यादा कारगर था। यद्यपि उसका नाम नकार में है, तो भी वह है बहुत ही बल और प्रभाव रखनेवाला तरीक़ा और ऐसा तरीक़ा जो ज़ालिम की ख्वाहिश के सामने चुपचाप सिर झुकाने के बिलकुल ख़िलाफ़ था। वह तरीक़ा कायरों का तरीक़ा नहीं था जिसमें लड़ाई से मुहँ छिपाया जाये, बल्कि बुराई और क़ौमी गुलामी की मुखालफ़त करने के लिए बहादुरों का तरीक़ा था। लेकिन अगर किन्हीं भी थोड़े से शख़्सों के—मुमकिन है वे दोस्ती का लबादा ओढ़े हुए हमारे दुश्मन हों—हाथ में यह ताक़त हो कि ऊटपटाँग बेतहाशा कामों से हमारे आन्दोलन को रोक या खत्म कर सकते हैं, तो बहादुराना-से-बहादुराना और मज़बूत-से-मज़बूत तरीक़े से भी आखिर क्या फ़ायदा ?

धारा-प्रवाह बोलने की और लोगों को समझाने की ताक़त गांधीजी में बहुतायत से मौजूद है। अहिंसा का और शांतिमय असहयोग का रास्ता अख़्तियार कराने के लिए उन्होंने अपनी ताक़त से पूरा-पूरा काम लिया था। उनकी भाषा सीधी-सादी थी, उसमें बनावट बिलकुल न थी। उनकी आवाज़ और मुख-मुद्रा शान्त और साफ़ थी। उसमें विकार का नामोनिशान भी न था, लेकिन बर्फ़ की उस बाहरी ओढ़नी के पीछे एक तेज जोश और उमंग और जलती हुई ज्वाला की गरमी थी। उनके मुख से शब्द उड़-उड़कर ठेठ हमारे दिलो-दिमाग़ के भीतरी-से-भीतरी कोने में घर कर गये, और उन्होंने वहाँ एक अजीब खलबली पैदा कर दी।

उन्होंने जो रास्ता बताया था वह कड़ा और मुश्किल था, लेकिन था बहादुरी का, और ऐसा मालूम पड़ता था कि वह आज़ादी के मक़सद पर हमें ज़रूर पहुँचा देगा। १९२० में 'तलवार का न्याय' नाम के एक नामी लेख में उन्होंने लिखा था :—

"मैं यह विश्वास ज़रूर रखता हूँ कि अगर सिर्फ़ बुज़दिली और हिंसा में से ही चुनाव करना हो तो मैं हिंसा को चुनने की सलाह दूँगा। मैं यह पसन्द करूँगा कि हिंदुस्तान अपनी इज़्ज़त बचाने के लिए हथियारों की मदद ले, बनिस्बत इसके कि वह कायरों की तरह खुद अपनी बेइज्जती का असहाय शिकार हो जाये या बना रहे। लेकिन मेरा विश्वास है कि अहिंसा हिंसा से कहीं ऊँची है, सज़ा की बनिस्बत माफ़ी देना कहीं ज्यादा बहादुरी का काम है। **'क्षमा वीरस्य भूषणम्'**। क्षमा से वीर की शोभा बढ़ती है। लेकिन सज़ा न देना उसी हालत में क्षमा होती है जब सज़ा देने की ताक़त हो। किसी असहाय जीव का यह कहना कि मैंने अपनेसे बलवान को क्षमा किया, कोई मानी नहीं रखता। जब एक चूहा बिल्ली को अपने शरीर के टुकड़े-टुकड़े करने देता है तब वह बिल्ली को क्षमा नहीं करता।...लेकिन मैं यह नहीं समझता कि हिन्दुस्तान कायर है। न मैं यही समझता हूँ कि मैं बिलकुल असहाय हूँ......।

"कोई मुझे समझने में ग़लती न करे। ताक़त शारीरिक बल से नहीं आती, वह तो अदम्य इच्छा-शक्ति से ही आती है।

"कोई यह न समझे कि मैं हवाई और ख़याली आदमी हूँ। मैं तो अमली आदर्शवादी होने का दावा करता हूँ। अहिंसा-धर्म महज़ ऋषियों और महात्माओं के लिए ही नहीं है, वह तो आम लोगों के लिए भी है। जैसे पशुओं के लिए हिंसा प्रकृति का नियम है वैसे ही अहिंसा हम मनुष्यों की प्रकृति का क़ानून। पशुओं की आत्मा-सोती पड़ी ही रहती है और वह शारीरिक बल के अलावा और क़ानून को जानती ही नहीं। इन्सान का गौरव चाहता है कि वह ज्यादा ऊँचे क़ानून की ताक़त, आत्मा की ताक़त के सामने सिर झुकावे।

"इसीलिए मैंने हिन्दुस्तान के सामने आत्म-बलिदान का, अपनी

कुर्बानी का प्राचीन नियम पेश करने की जुर्रत की है, क्योंकि सत्याग्रह और उसकी शाखायें, सहयोग और सविनय प्रतिरोध, कष्ट-सहन के नियम के दूसरे नामों के अलावा और कुछ नहीं हैं। जिन ऋषियों ने हिंसा में से अहिंसा का नियम ढूँढ़ निकाला, वे न्यूटन से ज्यादा प्रतिभाशाली थे। वे खुद वेलिंगटन से ज्यादा योद्धा थे। वे हथियार चलाना जानते थे, लेकिन अपने अनुभव से उन्होंने उन्हें बेकार पाया और भयभीत दुनिया को यह सिखाया कि उसका छुटकारा हिंसा के ज़रिये नहीं होगा बल्कि अहिंसा के जरिये होगा।

"अपनी सक्रिय दशा में अहिंसा के मानी हैं जानबूझकर तक़लीफ़ें उठाना। उसके मानी यह नहीं हैं कि आप बुरा करनेवाले की इच्छा के सामने चुपचाप अपना सिर झुका दें, बल्कि उसके मानी यह हैं कि हम ज़ालिम की इच्छा के ख़िलाफ़ अपनी पूरी आत्मा को भिड़ा दें। अपनी हस्ती के इस क़ानून के मुताबिक काम करते हुए, महज़ एक शख्स के लिए भी यह मुमकिन है कि वह अपनी इज्ज़त, अपने मज़हब और अपनी जीवात्मा को बचाने के लिए, किसी अन्यायी साम्राज्य की ताक़त को ललकार दे और उसके साम्राज्य के पुनरुद्धार या पतन की नींव डाल दे।

"और इसलिए मैं हिन्दुस्तान से अहिंसा का रास्ता अख्त्यार करने के लिए इसलिए नहीं कहता कि वह कमज़ोर है। मैं चाहता हूँ कि वह अपनी ताक़त और अपने बल-भरोसे को जानते हुए अहिंसा पर अमल करे.....मैं चाहता हूँ कि हिन्दुस्तान यह पहचान ले कि उसके एक आत्मा है, जिसका नाश नहीं हो सकता और जो तमाम शारीरिक कमज़ोरियों पर फतह पा सकती है और तमाम दुनिया के शारीरिक बलों का मुकाबला कर सकती है।.....

"इस असहयोग को मैं 'सिनफ़िन'-आन्दोलन से अलग समझता हूँ; क्योंकि इसका जिस तरह से ख़याल किया गया है उस तरह वह हिंसा के साथ-साथ कभी हो ही नहीं सकता। लेकिन मैं तो हिंसा के सम्प्रदाय को भी न्योता देता हूँ कि वे इस शान्तिमय असहयोग की परीक्षा तो करें। यह अपनी अन्दरूनी कमज़ोरी की वजह से असफल न होगा। हाँ, अगर

ज्यादा तादाद में लोग उसे अख़्त्यार न करें, तो वह असफल हो सकता है। वही वक्त असली ख़तरे का वक्त होगा; क्योंकि उस वक्त वे उच्चात्मा जो अधिक काल तक राष्ट्रीय अपमान सहन नहीं कर सकते, अपना गुस्सा नहीं रोक सकेंगे। वे हिंसा का रास्ता अख़्त्यार करेंगे। जहाँतक मैं जानता हूँ, वे गुलामी से अपना या मुल्क का छुटकारा किये बिना ही बरबाद हो जायेंगे। अगर हिन्दुस्तान तलवार के पक्ष को ग्रहण कर ले तो मुमकिन है कि वह थोड़ी देर को विजय पा ले। परन्तु उस वक्त हिन्दुस्तान के लिए मेरे हृदय में गर्व न होगा। मैं तो हिन्दुस्तान से इसलिए बँधा हुआ हूँ कि मेरे पास जो-कुछ है वह सब मैंने उसीसे पाया है। मुझे पक्का और पूरा विश्वास है कि दुनिया के लिए हिन्दुस्तान का एक मिशन है।"

इन दलीलों का हमारे ऊपर बहुत असर पड़ा, लेकिन हम लोगों की राय में और कुल मिलाकर कांग्रेस की राय में अहिंसा का तरीक़ा न तो मज़हब या अकाट्य सिद्धान्त या धर्म का तरीक़ा था, और न हो ही सकता था। हमारे लिए तो वह ज्यादा-से-ज्यादा एक ऐसी नीति या एक ऐसा सहल तरीक़ा ही हो सकता था जिससे हम ख़ास नतीज़ों की उम्मीद करते थे, और उन्हीं नतीज़ों से आखीर में हम उसकी बाबत फैसला करते। अपने-अपने लिए लोग उसे भले ही मजहब बना लें या निर्विवाद धर्म मान लें, परन्तु कोई भी राजनैतिक संस्था, जबतक वह राजनैतिक है, ऐसा नहीं कर सकती।

चौरीचौरा और उसके नतीज़े ने हम लोगों को, एक साधन के रूप में, अहिंसा के इन पहलुओं की जाँच करने को मजबूर कर दिया। और हम लोगों ने महसूस किया कि अगर आन्दोलन मुल्तवी करने के लिए गांधीजी ने जो कारण बताये हैं वे सही हैं तो हमारे विरोधियों के पास हमेशा वह ताक़त रहेगी, जिससे वे ऐसी हालतें पैदा कर दें जिनसे लाज़मी तौर पर हमें अपनी लड़ाई छोड़ देनी पड़े! तो, यह क़सूर खुद अहिंसा के तरीक़े का था या उसकी उस व्याख्या का जो गांधीजी ने की? लेकिन आख़िर वही तो उस तरीक़े के जन्मदाता थे? उनसे ज्यादा इस बात का

बेहतर जज और कौन हो सकता था कि वह तरीक़ा क्या है और क्या नहीं है? और बिना उसके हमारे आन्दोलन का क्या ठिकाना होगा?

लेकिन बहुत बरसों के बाद, १९३० की सत्याग्रह की लड़ाई शुरू होने से ठीक पहले, हमें यह देखकर बड़ा संतोष हुआ कि गांधीजी ने इस बात को साफ़ कर दिया। उन्होंने कहा कि कहीं इक्के-दुक्के हिंसा-काण्ड हो जायें, तो उसकी वजह से हमें अपनी लड़ाई छोड़ने की जरूरत नहीं है। अगर ऐसी घटनाओं की वजह से, जो कहीं-न-कहीं हुए बिना नहीं रह सकतीं, अहिंसा का तरीक़ा काम नहीं कर सकता, तो जाहिर था कि वह हर मौक़े के लिए सबसे अच्छा तरीक़ा नहीं है। और गांधीजी इस बात को मानने के लिए तैयार नहीं थे। उनकी राय में तो जब वह तरीक़ा सही है तो वह सब मौक़ों के लिए मौजूँ होना चाहिए, और कम-से-कम संकुचित दायरे में ही सही, लेकिन विरोधी आबोहवा में भी उसे अपना काम करते रहना चाहिए। इस व्याख्या ने अहिंसात्मक लड़ाई का क्षेत्र बढ़ा दिया। लेकिन यह व्याख्या गांधीजी के विचारों के विकास की गवाही देती है या क्या, यह मैं नहीं जानता।

असल बात तो यह है कि फ़रवरी १९२२ में सत्याग्रह का मुल्तवी किया जाना महज़ चौरीचौरा की वजह से नहीं हुआ, हालाँकि ज्यादातर लोग यही समझते थे। वह तो असल में एक आख़िरी निमित्त हो गया था। गांधीजी अक्सर अपनी अन्तःप्रेरणा या सहज-बुद्धि से प्रेरित होकर काम करते हैं। ऐसा मालूम होता है कि जैसे महान् लोक-प्रिय नेता अक्सर किया करते हैं, वैसे ही गांधीजी ने बहुत अर्से से जनता के नज़दीक रहकर एक नयी चेतना पैदा कर ली है, जो उनको यह बता देती है कि जनता क्या महसूस कर रही है और वह क्या कर सकती है तथा क्या नहीं कर सकती? वह इस सहज-प्रेरणा को सुनते हैं और तुरन्त उसीके मुताबिक़ रूप अपने कार्य को दे देते हैं और उसके बाद अपने चकित और नाराज़ साथियों के लिए अपने फ़ैसलों को कारण का जामा पहनाने की कोशिश करते हैं। यह जामा अक्सर बिल्कुल नाकाफ़ी होता है, जैसे कि चौरीचौरा के बाद मालूम होता था। उस वक्त हमारा

आन्दोलन, बावजूद उसके ऊपरी दिखाई देनेवाले और लम्बे-चौड़े जोश के, अन्दर से तितर-बितर हो रहा था। तमाम संगठन और अनुशासन का लोप हो रहा था। क़रीब-क़रीब हमारे सब अच्छे आदमी जेल में थे, और उस वक़्त तक आम लोगों को खुद अपने बल पर लड़ाई चलाते रहने की बहुत ही कम, नहीं के बराबर, शिक्षा मिली थी। जो भी अजनबी आदमी चाहता, कांग्रेस कमिटी का चार्ज ले सकता था, और दर-असल बहुत से अनिष्ट लोग, जिनमें लोगों को उकसाने तथा भड़काने वाले सरकारी एजेंट तक शामिल थे, घुस आये थे और कुछ मुक़ामी कांग्रेस और खिलाफ़त-कमिटियों पर हावी हो गये थे। ऐसे लोगों को रोकने का उस वक़्त कोई चारा न था।

इसमें कोई शक नहीं कि कुछ हदतक इस तरह की बात इस क़िस्म की लड़ाई में बहुत कुछ लाज़िमी है। नेताओं के लिए यह लाज़िमी है कि वे सबसे पहले खुद जेल जाकर लोगों को रास्ता दिखा दें और दूसरों पर यह भरोसा करें कि वे लड़ाई चलाते रहेंगे। ऐसी दशा में जो कुछ किया जा सकता है वह सिर्फ़ इतना ही कि जनता को कुछ मामूली सीधे-सादे काम करना और उससे भी ज्यादा कुछ क़िस्म के कामों से वर्जित रहना सिखा दिया जाय। १९३० में इस तरह की तालीम देने में हमने पहले ही कुछ साल लगा दिये थे। इसीसे उस वक़्त और १९३२ में सविनय-भंग-आन्दोलन बहुत ही ताक़त के साथ और संगठित रूप में चला था। १९२१ और १९२२ में इस बात की कमी थी। उन दिनों लोगों के जोशोखरोश के पीछे और कुछ न था। इसमें कोई शक नहीं कि अगर आन्दोलन जारी रहता तो कई जगह भयकर हत्याकाण्ड हो जाते। इन हत्याकाण्डों को सरकार बदतर हत्याकाण्डों द्वारा कुचलती। डर का राज कायम हो जाता, जिससे लोग बुरी तरह पस्त-हिम्मत हो जाते।

गांधीजी के दिमाग़ में जिन असरों और वजहों ने काम किया वे सम्भवतः यही थे। उनकी मूल बातों को, तथा अहिंसा-शास्त्र के मुताबिक़ काम करना वाञ्छनीय था, इस बात को मान लेने के बाद कहना

होगा कि उनका फ़ैसला सही ही था। उनको ये सब खराबियां रोककर नये सिरे से रचना करनी थी। एक दूसरी और बिल्कुल जुदा दृष्टि से देखने पर उनका फ़ैसला गलत भी माना जा सकता है, लेकिन उस दृष्टि-कोण का अहिंसात्मक तरीके से कोई ताल्लुक न था। आप एक साथ दायें और बायें दोनों रास्तों पर नहीं चल सकते। इसमें कोई शक नहीं कि अपने उस आन्दोलन को उस अवस्था में और इन खास इक्की-दुक्की वजह से सरकारी हत्याकाण्डों द्वारा कुचल डालने का निमन्त्रण देने से भी राष्ट्रीय आन्दोलन खत्म नहीं हो सकता था, क्योंकि ऐसे आन्दोलनों का ऐसा तरीका है कि वे अपनी चिता की भस्म में से ही फिर उठ खड़े होते हैं। अक्सर थोड़े वक्त के लिए हार जाने से भी समस्याओं को भलीभाँति समझने और लोगों को पक्का तथा मजबूत करने में मदद मिलती है। असली बात पीछे हटना या दिखावटी हार होना नहीं है, बल्कि सिद्धान्त और आदर्श है। अगर जनता इन उसूलों का तेज कम न होने दे तो नये सिरे से ताक़त हासिल करने में देर नहीं लगती। लेकिन १९२१ और १९२२ में हमारे सिद्धान्त और हमारा लक्ष्य क्या था? एक धुंधला स्वराज, जिसकी कोई स्पष्ट व्याख्या न थी, लेकिन था सिर्फ अहिंसात्मक लड़ाई का एक खास शास्त्र। अगर लोग किसी बड़े पैमाने पर इक्के-दुक्के हिंसा-काण्ड कर डालते तो अपने-आप पिछला यानी अहिंसा का तरीक़ा खत्म हो जाता, और जहाँतक पहली बात, यानी स्वराज से ताल्लुक़ है उसमें ऐसी कोई बात न थी जिसके लिए लोग अड़ते। आम तौर पर लोग इतने मज़बूत न थे कि वे ज्यादा अरसे तक लड़ाई चलाये जाते और विदेशी शासन के खिलाफ़ क़रीब-क़रीब सर्वव्यापी असन्तोष और कांग्रेस के साथ सब लोगों की हमदर्दी के बावजूद लोगों में काफी बल या संगठन न था। वे टिक नहीं सकते थे। जो हजारों लोग जेल गये वे भी क्षणिक जोश में आकर और यह उम्मीद करते हुए कि तमाम क़िस्सा कुछ ही दिनों में तय हो जायगा।

इसलिए यह हो सकता है कि १९२२ में सत्याग्रह को मुलतवी करने का जो फ़ैसला किया गया वह ठीक ही था, हालाँकि उसके मुलतवी करने

का तरीक़ा और भी बेहतर हो सकता था और उसकी वजह से लोगों की निष्ठा ढीली हो गयी और एक प्रकार की पस्त-हिम्मती आगयी।

मगर मुमकिन है कि इस बड़े आन्दोलन को इस तरह एकाएक बोतल में बन्द करने से उन दुःखान्त काण्डों के होने में मदद मिलती जो देश में बाद को जाकर हुए। राजनैतिक संग्राम में फुटकर और बेका हिंसा-काण्डों की ओर बहाव तो रुक गया, लेकिन इस तरह दबायी गयी हिंसावृत्ति अपने निकलने का रास्ता तो ढूँढती ही; और शायद बाद के बरसों में इसी बात ने हिन्दू-मुस्लिम झगड़ों को बढ़ाया। असहयोग और सविनय भंग या सिविल नाफ़रमानी की हलचल को आम लोगों की जो भारी इमदाद मिली उससे तरह-तरह के साम्प्रदायिक नेता, जो ज्यादातर राजनीति में प्रतिक्रियावादी थे, लोगों की निगाह से गिरकर दबे पड़े थे। लेकिन उस चहलपहल के बन्द होने पर अब वे बाहर निकल आये। बहुत से दूसरे लोगों ने भी—जैसे ख़ुफिया के एजेण्टों तथा उन लोगों ने जो हिन्दू-मुसलमानों में फ़िसाद कराके हाकिमों को ख़ुश करना चाहते थे—हिन्दू-मुस्लिम वैर बढ़ाने में मदद की। मोपलाओं के उत्पात से तथा जिस निहायत बेरहमी से उसे कुचला गया उससे उन लोगों को एक अच्छा हथियार मिला जो फिरक़ेवाराना झगड़े पैदा कराना चाहते थे। रेलवे के बन्द डिब्बों में मोपला क़ैदियों का भुरता कर देना एक बहुत-ही बीभत्स दृश्य था। यह मुमकिन हो सकता है कि अगर सत्याग्रह बन्द न किया गया होता और उसे सरकार ने ही कुचला होता तो उस हालत में क़ौमी ज़हर इतना न बढ़ता और बाद को जो साम्प्रदायिक दंगे हुए उनकेलिए बहुत ही कम ताक़त बाक़ी रहती।

सत्याग्रह बन्द करने के पहले एक घटना हुई, जिसके नतीजे बिल्कुल दूसरे हो सकते थे। सत्याग्रह की पहली लहर से सरकार भौंचक रह गयी और डर गयी। इसी वक़्त वाइसराय लार्ड रीडिंग ने एक आम स्पीच में यह कहा कि मैं हैरान व परेशान हूँ। उन दिनों युवराज हिन्दुस्तान में थे और उनकी मौजूदगी से सरकार की ज़िम्मेदारी बहुत बढ़ गयी थी। दिसम्बर १९२१ के शुरू में जो धड़ाधड़ गिरफ्तारियाँ हुई थीं उनके बाद

ही फ़ौरन उसी महीने में सरकार ने एक कोशिश की कि कांग्रेस से किसी क़िस्म का राजीनामा कर लिया जाय। यह बात ख़ास तौर पर कलकत्ते में युवराज की आमद को मद्देनजर रखकर की गयी थी। बंगाल-सरकार के प्रतिनिधियों में और देशबन्धु दास में, जो उन दिनों जेल में थे, कुछ आपसी बात-चीत हुई। मालूम पड़ता है कि इस तरह की तजवीज की गयी कि सरकार और कांग्रेस के प्रतिनिधियों में एक छोटी सी गोलमेज-कान्फ्रेन्स की जाय। यह तजवीज इसलिए गिर गयी कि गांधीजी ने इस बात पर जोर दिया कि मौलाना मुहम्मदअली का भी, जो उस वक़्त कराची की जेल में थे, इस कान्फ्रेन्स में मौजूद रहना जरूरी है और सरकार इस बात के लिए राजी न थी।

इस मामले में गांधीजी का यह रुख़ दासबाबू को पसन्द नहीं आया और कुछ वक़्त बाद जब वह जेल से छूटकर आये तब उन्होंने खुलेआम गांधीजी की आलोचना की और कहा कि उन्होंने सख़्त ग़लती की है। हम लोग उन दिनों जेल में थे, इसलिए हममें से ज्यादातर वे सब बातें नहीं जान सकते जो इस मामले में हुई, और तमाम बातों को जाने बिना कोई फ़ैसला करना मुश्किल है। लेकिन यह मालूम होता है कि उस हालत में कान्फ्रेन्स से कोई फ़ायदा नहीं हो सकता था। असल में सरकार महज़ यह कोशिश कर रही थी कि किसी तरह कलकत्ते में शाहज़ादे की आमद का वक़्त बिला खरख़शा निकल जाये। इससे तो जो बुनियादी मसले हमारे सामने थे वे ज्यों-के-त्यों बने रहते। नौ बरस बाद जब राष्ट्र और कांग्रेस पहले से कहीं ज्यादा ताक़तवर थे, तब गोलमेज़ कान्फ्रेन्स हुई और उससे भी कोई नतीजा नहीं निकला। लेकिन इसके अलावा भी मुझे ऐसा मालूम होता है कि गांधीजी ने मुहम्मदअली की मौजूदगी पर जोर देकर बिल्कुल ठीक ही किया। कांग्रेस के लीडर की हैसियत से ही नहीं, बल्कि ख़िलाफ़त की हलचल के लीडर की हैसियत से भी, और उन दिनों कांग्रेस के प्रोग्राम का ख़िलाफ़त एक अहम मुद्दा था, उनकी मौजूदगी लाज़िमी थी। जिस नीति या कार्रवाई में अपने साथी को छोड़ना पड़े वह कभी सही हो ही नहीं सकती। सरकार की

एक इसी बात से कि वह उन्हें जेल से छोड़ने को तैयार न थी, इस बात का पता चल जाता है कि कान्फ्रेन्स से किसी क़िस्म के नतीजे की उम्मीद करना बेकार था।

मुझे और पिताजी को अलग-अलग जुर्मों में अलग-अलग अदालतों ने ६-६ महीने की सजायें दी थीं। मुक़दमे महज़ तमाशे थे और अपने रिवाज के मुताबिक़ हम लोगों ने उनमें कोई हिस्सा नहीं लिया था। इसमें कोई शक नहीं कि हमारे सब व्याख्यानों में और दूसरी हलचलों में सज़ा दिलाने के लिए काफ़ी मसाला ढूँढ निकालना बहुत आसान था। लेकिन सज़ा दिलाने के लिए जो मसाला दर-असल पसंद किया गया वह मज़ेदार था। पिताजी पर एक ग़ैर-क़ानूनी जमात का मेंबर—कांग्रेस-स्वयंसेवक—होने के जुर्म में मुक़दमा चलाया गया था और इस जुर्म को साबित करने के लिए एक फार्म पेश किया गया जिसमें हिन्दी में उनके दस्तख़त दिखाये गये थे। बिलाशक दस्तख़त उन्हींके थे लेकिन असल में हुआ यह कि इससे पहले उन्होंने प्राय: कभी हिन्दी में दस्तख़त नहीं किये थे। इसलिए बहुत ही कम लोग उनके हिन्दी के दस्तख़त पहचान सकते थे। अदालत में एक फटे-हाल महाशय पेश किये गये, जिन्होंने हलफ़िया बयान दिया कि दस्तख़त मोतीलालजी के ही हैं। वह महाशय बिलकुल अपढ़ थे और जब उन्होंने दस्तख़तों को देखा तब वह फार्म को उल्टा पकड़े हुए थे। पिताजी अदालत में मेरी लड़की को बराबर अपनी गोद में लिये रहे। इससे उनके मुक़दमे में उसे पहली मर्तबा अदालत का तजुर्बा हुआ। उस वक़्त उसकी उम्र चार बरस की थी।

मेरा जुर्म यह था कि मैंने हड़ताल कराने के लिए नोटिस बाँटे थे। उन दिनों यह कोई जुर्म न था—यद्यपि मेरा खयाल है कि इस वक़्त ऐसा करना जुर्म है, क्योंकि हम बड़ी तेजी के साथ डोमीनियन स्टेट्स (औपनिवेशिक स्वराज्य) की तरफ़ बढ़ते जा रहे हैं—फिर भी मुझे सज़ा दे दी गयी ! तीन महीने बाद जब मैं पिताजी तथा दूसरे लोगों के साथ जेल में था तब मुझे इत्तला मिली कि कोई मुक़दमों की जाँच करनेवाले अफ़सर इस नतीजे पर पहुँचे हैं कि मुझे जो सज़ा दी गयी वह ग़लत है

और इसलिए मुझे छोड़ा जायगा। मुझे इस बात से बड़ा अचरज हुआ, क्योंकि मेरे मुक़दमे की जाँच कराने के लिए मेरी तरफ़ से किसीने कोई कार्रवाई नहीं की थी। ऐसा मालूम पड़ता है कि सत्याग्रह मुल्तवी हो जाने पर जाँच करनेवाले जजों में मुक़दमों की जाँच करने का एकाएक जोश उमड़ आया हो। मुझे पिताजी को जेल में छोड़कर बाहर जाने में बहुत दुःख हुआ।

मैंने तय कर लिया कि अब फ़ौरन ही अहमदाबाद जाकर गांधीजी से मिलूंगा। लेकिन मेरे वहाँ पहुँचने से पहले वह गिरफ़्तार हो चुके थे। इसलिए उनसे मैं साबरमती-जेल में ही जाकर मिल सका। उनके मुक़दमे के वक़्त मैं अदालत में मौजूद था। वह एक चिरस्मरणीय प्रसंग था और हममें से जो लोग उस वक़्त वहाँ मौजूद थे वे शायद उसे कभी भूल नहीं सकते। जज एक अंग्रेज़ था। उसने अपने व्यवहार में काफ़ी शराफ़त और सद्भावना दिखायी। अदालत में गांधीजी ने जो बयान दिया वह दिलों पर बहुत ही असर डालनेवाला था। हम लोग वहाँसे जब लौटे तो हमारे दिल हिलोरें ले रहे थे और उनके जिन्दा वाक्यों और उनके चमत्कारी भावों और विचारों की गहरी छाप हमारे मन पर पड़ी हुई थी।

मैं इलाहाबाद लौट आया। मुझे एक ऐसे वक़्त पर जेल से बाहर रहना बहुत ही सुनसान और दुःखप्रद मालूम हुआ जब मेरे इतने दोस्त और साथी जेल के सीख़चों के अन्दर बन्द थे। बाहर आकर मैंने देखा कि कांग्रेस का संगठन ठीक-ठीक काम नहीं कररहा है और मैंने उसे ठीक करने की कोशिश की। ख़ास तौर पर मैंने विलायती कपड़े के बहिष्कार में दिलचस्पी ली। सत्याग्रह के वापस ले लिए जाने पर भी हमारे कार्यक्रम का वह हिस्सा अब भी चालू था। इलाहाबाद के कपड़े के क़रीब-क़रीब तमाम व्यापारियों ने यह वादा किया था कि वे न तो विलायती कपड़ा हिन्दुस्तान में ही किसीसे ख़रीदेंगे न विलायत से ही मँगावेंगे। इस मतलब के लिए उन्होंने एक मण्डल भी क़ायम कर लिया था। मण्डल के क़ायदों में यह लिखा हुआ था कि जो अपना वादा तोड़ेगा उसे जुर्माने की सज़ा दी जायगी। मैंने देखा कि कपड़े के कई

बड़े-बड़े व्यापारियों ने अपना वादा तोड़ दिया है और वे विदेशों से विलायती कपड़ा मँगा रहे हैं। यह उन लोगों के साथ बहुत बड़ी बे-इंसाफ़ी थी जो अपने वादे पर डटे हुए थे। हम लोगों ने कहा-सुनी की लेकिन कुछ नतीजा न निकला और कपड़े के दूकानदारों का मण्डल किसी कारगर काम के लिए बिलकुल बेकार साबित हुआ। इसलिए हम लोगों ने तय किया कि वादा तोड़नेवाले दूकानदारों की दूकानों पर धरना दिया जाय। हमारे काम के लिए धरने का इशारा-भर काफ़ी था। बस, जुर्माने दे दिये गये और नये सिरे से फिर वादे कर लिये गये। जुर्मानों से जो रुपया आया वह दूकानदारों के मण्डल के पास गया।

दो-तीन दिन बाद अपने कई साथियों के साथ मुझे गिरफ्तार कर लिया गया। ये साथी वे लोग थे जिन्होंने दूकानदारों के साथ बातचीत करने में हिस्सा लिया था। हमारे ऊपर ज़बरदस्ती रुपया ऐंठने और लोगों को डराने का जुर्म लगाया गया। मेरे ऊपर राजद्रोह सहित, कुछ और भी जुर्म लगाये गये। मैंने अपनी कोई सफ़ाई नहीं दी, अदालत में सिर्फ़ एक लंबा बयान दिया। मुझे कम-से-कम तीन जुर्मों में सजा दी गयी, जिनमें जबरदस्ती रुपया ऐंठना और लोगों को दबाने के जुर्म भी शामिल थे। लेकिन राजद्रोहवाला मामला नहीं चलाया गया क्योंकि ग़ालिबन यह सोचा गया कि मुझे जितनी सजा मिलनी चाहिए थी वह पहले ही मिल चुकी है। जहाँतक मुझे याद है, मुझे तीन सजायें दी गयीं, जिनमें दो अठारह-अठारह महीने की थीं और एक-साथ चलने को थीं। मेरा ख़याल है कि कुल मिलाकर मुझे एक साल नौ महीने की सजा दी गयी थी। यह मेरी दूसरी सजा थी। मैं छः हफ्ते के क़रीब जेल से बाहर रहकर फिर वहीं चला गया।

: १३ :

लखनऊ-ज़िला-जेल

१९२१ में हिन्दुस्तान में राजनैतिक अपराधों के लिए जेल जाना कोई नयी बात नहीं थी। खासकर बंग-भंग-आन्दोलन के वक्त से बराबर ऐसे लोगों का तांता लगा रहा जो जेल जाते थे और उनको अक्सर बड़ी लम्बी-लम्बी सजायें होती थीं। बग़ैर मुकदमे चलाये नज़रबन्दियां भी होती थीं। लोकमान्य तिलक को, जो अपने समय के हिन्दुस्तान के सबसे बड़े नेता थे, उनकी ढलती हुई उम्र में छः साल क़ैद की सजा दी गयी थी। पिछले महायुद्ध के कारण तो नज़रबन्दियों और जेल भेजने का यह सिलसिला और भी बढ़ गया, और षड्यन्त्रों के मामले बहुत होने लगे जिनमें आमतौर पर मौत की या आजीवन क़ैद की सजायें दी जाती थीं। अली-बन्धु और मौ० अबुलकलाम आज़ाद भी लड़ाई के ज़माने में नज़र-बन्द हुए थे। लड़ाई के बाद ही फ़ौरन पंजाब में फ़ौजी क़ानून जारी हुआ, जिसमें लोग बड़ी तादाद में जेल गये और बहुत लोगों को षड्यन्त्र के या मुख्तसर मुकदमों में सजायें दी गयीं। इस तरह हिन्दुस्तान में राज-नैतिक सजा होना एक काफ़ी आम बात हो गयी थी, मगर अभीतक खुद जानबूझकर कोई जेल न जाता था। लोग अपना काम करते थे और उस सिलसिले में उन्हें राजनैतिक सज़ा अपने-आप मिल जाती थी; या शायद इसलिए मिल जाती थी कि खुफ़िया पुलिस उनको नापसन्द करती थी, लेकिन, ऐसा होने पर, अदालत में पैरवी करके उससे बचने की पूरी कोशिश की जाती थी। हाँ, दक्षिण-अफ्रीका में अलबत्ता सत्याग्रह की लड़ाई में गांधीजी और उनके हज़ारों अनुयायियों ने एक नयी ही मिसाल पेश की थी।

मगर फिर भी १९२१ में जेलखाना क़रीब-क़रीब एक अज्ञात जगह थी, और बहुत कम लोग जानते थे कि नये सजायाफ्ता आदमियों को अपने अन्दर हड़प जानेवाले डरावने फाटक के भीतर क्या होता है?

अन्दाज़ से हम कुछ-कुछ ऐसा समझते थे कि जेल के अन्दर बड़े-बड़े खतरनाक जीव होंगे, जिनके लिए कुछ भी कर गुज़रना तो बायें हाथ का खेल होगा। हमारे ख़याल से जेल एकान्त, बेइज्जती और कष्टों की जगह थी, और सबसे बड़ी बात यह थी कि उसके साथ अनजान जगह होने का खौफ़ लगा हुआ था। १९२० से जेल जाने का बार-बार ज़िक्र सुनते रहने और उसमें अपने कई साथियों के चले जाने से, हम इस ख़याल के आदी हो गये, और उसके बारे में आशंका और अरुचि की जो भावना अक्सर अपने-आप पैदा हो जाती थी उसकी तेज़ी कम हो गयी। परन्तु दिमाग़ी तैयारी पहले से कितनी भी की हो, जब हम लोहे के फाटक में पहले-पहल दाख़िल होते थे तो वह क्षोभ और उद्वेग से नहीं बचा सकती थी। उस ज़माने से, जिसे आज तेरह साल हो गये, आज तक मेरे अन्दाज़ से हिन्दुस्तान से कम-से-कम ३ लाख स्त्री-पुरुष उन फाटकों में राजनैतिक अपराधों के लिए दाख़िल हो चुके हैं, हालाँकि बहुत करके इलज़ाम फौजदारी आईन की किसी दूसरी ही दफ़ा की रू से लगाया गया है। इनमें से हज़ारों तो कई बार अन्दर गये और बाहर आये हैं। उन्हें यह अच्छी तरह मालूम हो ही जाता है कि अन्दर वे किन बातों की उम्मीद रखें; और जहाँतक कोई आदमी विचित्र रूप से असाधारण और नीरसता और उदासी के साथ कष्ट-सहन और एक ढर्रे की भयंकर ज़िन्दगी के लायक अपने-आपको बना सकता है, वहाँतक उन्होंने वहाँकी अजीब ज़िन्दगी के मुआफ़िक अपनेको बनाने की कोशिश की है। हम उसके आदी हो जाते हैं, क्योंकि इंसान क़रीब-करीब हर बात का आदी हो जाता है, और फिर भी जब नयी बार हम उस फाटक के अन्दर दाख़िल होते हैं तो फिर वही पुराना क्षोभ और उद्वेग की भावना आ जाती है और नब्ज़ उछलने लगती है और आँखें बरबस बाहर की हरियाली और चौड़े मैदानों, चलते-फिरते लोगों और गाड़ियों और जान-पहचानवालों के चेहरों की तरफ़, जिन्हें अब बहुत अर्से तक देखने का मौक़ा नहीं मिलेगा, आख़िरी नज़र डालने लगती हैं।

जेल की मेरी पहली मियाद के दिन, जो तीन महीने के बाद ही

बाहर जा सकता था। भागने की कोशिश करने से तो किसी हदतक बदनामी होती थी, और ऐसा काम सत्याग्रह जैसे राजनैतिक कार्य से अलग हो जाने के बराबर था। हमारे लखनऊ-जेल के सुपरिन्टेन्डेन्ट ने यह बात अच्छी तरह समझ ली थी, और वह जेलर से (जोकि खान-साहब था) कहा करता था कि अगर आप कुछ कांग्रेस-स्वयंसेवकों को भाग जाने देने में कामयाब हो सकें तो तो मैं आपको खानबहादुर बनाने के लिए सरकार से सिफ़ारिश कर दूँगा।

हमारे साथ के ज्यादातर क़ैदी जेल के भीतरी चक्कर की बड़ी-बड़ी बैरकों में रक्खे जाते थे। हममें से अठारह को, जिन्हें मेरे अनुमान से अच्छे बर्ताव के लिए चुना गया था, एक पुराने वीविंग-शेड में रक्खा गया था, जिसके साथ एक बड़ी खुली हुई जगह थी। मेरे पिताजी, मेरे दो चचेरे भाई और मैं, इन लोगों के लिए एक अलग सायबान था, जो क़रीब-क़रीब २०×१६ फीट था। हमें एक बैरक से दूसरी बैरक में आने-जाने की काफ़ी आज़ादी थी। बाहर के रिश्तेदारों से मुलाक़ात बहुत बार करने की इजाज़त थी। अख़बार आते थे, और नई गिरफ्तारियों और हमारी लड़ाई की बढ़ती की ताजी घटनाओं की रोजाना खबरों से जोश का वातावरण रहता था। आपसी बात-चीत और बहस में बहुत वक्त जाता था, और मैं पढ़ना या दूसरा ठोस काम कुछ नहीं कर पाता था। मैं सुबह का वक़्त अपने सायबान को अच्छी तरह साफ़ करने और धोने में, पिताजी के और अपने कपड़े धोने में और चर्खा कातने में गुज़ारा करता था। वे जाड़े के दिन थे, जोकि उत्तर-हिन्दुस्तान का सबसे आच्छा मौसम है। शुरू के कुछ हफ्तों में हमें अपने स्वयंसेवकों के लिए, या उनमें जो पढ़ाना नहीं जानते थे उनके लिए, हिन्दी, उर्दू और दूसरे प्रारम्भिक विषय पढ़ाने के लिए क्लास खोलने की इजाज़त मिल गयी थी। तीसरे पहर हम वाली-वॉल खेला करते थे।[1]

---

१. अख़बारों में एक बे-सिर-पैर की ख़बर निकली है, और हालांकि उसका खण्डन किया जा चुका है फिर भी वह समय-समय पर प्रकाशित

धीरे-धीरे बन्धन बढ़ने लगे। हमें अपने अहाते से बाहर जाने और ल के उस हिस्से में, जहाँ हमारे ज्यादातर स्वयंसेवक रक्खे गये थे, ईंचने से रोक दिया गया। तब पढ़ाई के क्लास अपने-आप बन्द हो ये। क़रीब-क़रीब उसी वक़्त मैं जेल से छोड़ दिया गया।

मैं मार्च शुरू में बाहर निकला, और छः या सात हफ्ते बाद, अप्रैल फिर लौट आया। तब क्या देखता हूँ कि हालतें बदल गयी थीं। ताजी को बदलकर नैनीताल-जेल में भेज दिया गया था, और उनके ाने के बाद फ़ौरन ही नये क़ायदे लागू कर दिये गये थे। बड़े बौविंग-ाड के, जहाँ पहले मैं रक्खा गया था, सारे क़ैदी भीतरी जेल में बदल दये गये और वहाँ बैरकों में रख दिये गये थे। हरेक बैरक क़रीब-रीब जेल के अन्दर दूसरी जेल ही थी, और बैरकवालों से मिलने-ुलने या बातचीत करने की इजाज़त न थी। मुलाक़ात और ख़त अब म किये जाकर महीने भर में एक कर दिये गये। खाना बहुत मामूली र दिया गया, हालाँकि हमें बाहर से खाने की चीज़ें मँगाने की इजा-ज़त थी।

जिस बैरक में मैं रखा गया उसमें क़रीब पचास आदमी रहते होंगे। हम सबको एकसाथ ठूँस दिया गया, हमारे बिस्तरे एक-दूसरे से तीन-चार फ़ीट के फ़ासले पर थे। खुशकिस्मती से उस बैरक का क़रीब-क़रीब हरेक आदमी मेरा जाना हुआ था। और कई मेरे दोस्त भी थे। मगर दिन-रात एकान्त का बिलकुल न मिलना तो नागवार होता गया। हमेशा

होती रहती है। वह यह कि उस वक्त के यू० पी० गवर्नर सर हारकोर्ट बटलर ने जेल में मेरे पिताजी के पास शेम्पेन शराब भेजी। सच तो यह है कि सर हारकोर्ट ने पिताजी के लिए जेल में कुछ नहीं भेजा, और न किसी दूसरे ने ही शेम्पेन या दूसरी कोई नशीली चीज़ भेजी। वास्तव में कांग्रेस के असहयोग को अपना लेने के बाद, १९२० ई० से, उन्होंने शराब वग़ैरा पीना सब छोड़ दिया था, और उस वक्त वह कोई ऐसी चीज़ नहीं पीते थे।

करते हुए गुज़रने लगे, तरह-तरह की शक्लें बनाते हुए भिन्न-भिन्न प्रक
के रंगों के चमत्कार दिखाने लगे, तो मैं ताज्जुब और खुशी से उ
निहारने लगा और देखते-देखते मानों आनन्द में पागल हो जाता। क
कभी बादलों के बीच में से कुछ हिस्सा अलग हो जाता था और वर्णात
का एक अद्भुत दृश्य दिखायी देता था। उस ख़ाली जगह में से गह
नीला आसमान नज़र आता था जो कि अनन्त का ही एक हिस्सा मा
होता था।

हमारे ऊपर रुकावटें धीरे-धीरे बढ़ने लगीं, और ज़्यादा-ज़्या
सख़्त क़ायदे लागू किये जाने लगे। सरकार ने हमारे आन्दोलन
नाप कर ली थी, और वह हमें यह महसूस करा देना चाहती थी।
उसका मुक़ाबिला करने की जुर्रत करने के सबब से वह हमपर कि
क़दर नाराज़ है। नये क़ायदों के चालू करने या उनके अमल में ल
के तरीक़ों से जेल-अधिकारियों और राजनैतिक क़ैदियों के बीच झग
होने लगे। कई महीनों तक क़रीब-क़रीब हम सबने—हम लोग उ
जेल में कई सौ थे—विरोध के तौर पर मुलाक़ातें करना छोड़ दि
था। ज़ाहिरा यह ख़याल किया गया कि हममें से कुछ झगड़ा ख
करानेवाले हैं, इसलिए हममें से सात आदमियों को जेल के एक दूर
हिस्से में बदल दिया गया, जो कि खास बैरकों से बिलकुल अलहदा था
इस तरह जिन लोगों को अलग किया गया उनमें मैं, पुरुषोत्तमदास टण्ड
महादेव देसाई, जार्ज जोसफ़, बालकृष्ण शर्मा और देवदास गांधी थे।

हमें एक छोटे अहाते में भेजा गया, और वहाँ रहने में कुछ तकली
भी थीं। मगर कुल मिलाकर मुझे तो इस तब्दीली से खुशी ही हुई
यहाँ भीड़-भाड़ नहीं थी; हम ज्यादा शान्ति और ज्यादा एकान्त से र
सकते थे। पढ़ने या दूसरे काम के लिए वक्त ज्यादा मिलता था। ह
जेल के दूसरे हिस्सों के अपने साथी-क़ैदियों से अलहदा कर दिये गये औ
बाहरी दुनिया से भी अलहदा कर दिये गये; क्योंकि अब सब राजनैति
क़ैदियों के लिए अखबार भी बन्द कर दिये गये थे।

हमारे पास अख़बार नहीं आते थे, मगर बाहर से कोई-कोई ख़बर

न्दर टपक आती थी, जैसे कि जेलों में अक्सर टपका करती हैं। हमारी ाहवारी मुलाक़ातों और ख़तों से भी हमें बाज़-बाज़ ऐसी-वैसी ख़बरें मेल जाती थीं। हमको पता लगा कि हमारा आन्दोलन बाहर कमज़ोर ो रहा है। वह चमत्कारिक युग गुज़र गया था और कामयाबी धुँधले भविष्य में दूर जाती हुई मालूम हुई। बाहर, कांग्रेस में दो दल हो गये थे—परिवर्तनवादी और अ-परिवर्तनवादी। पहला दल, जिसके नेता देशबन्धुदास और मेरे पिताजी थे, चाहता था कि कांग्रेस अगले केन्द्रीय और प्रान्तीय कौंसिलों के चुनावों में हिस्सा ले और हो सके तो इन कौंसिलों पर क़ब्ज़ा कर ले; दूसरा दल, जिसके नेता राजगोपालाचार्य थे, असहयोग के पुराने कार्यक्रम में कोई भी परिवर्तन किये जाने के विरुद्ध था। उस समय गांधीजी तो जेल में ही थे। आन्दोलन के जिन सुन्दर आदर्शों ने हमें ज्वार की लहरों की चोटी पर बैठे हुए की तरह आगे बढ़ाया था, वे छोटे-छोटे झगड़ों और सत्ता प्राप्त करने की साज़िशों के द्वारा दूर उछाले जाने लगे। हमने यह महसूस किया कि जोश गुज़र जाने के बाद रोज़ाना का काम चलाने की बनिस्बत उत्साह और जोश के वक़्त में बड़े-बड़े और हिम्मत के काम कर जाना कितना आसान है। बाहर की ख़बरों से हमारा जोश ठण्डा होने लगा, और इसके साथ-साथ जेल से दिल पर जो अलग-अलग तरह के असर पैदा होते हैं उनके कारण हमारा वहाँ रहना और भी दूभर हो गया। मगर, फिर भी हमारे अन्दर यह एक तसल्ली की भावना रही कि हमने अपने स्वाभिमान और गौरव को सुरक्षित रक्खा है, और हमने सत्य का ही मार्ग ग्रहण किया है, चाहे उसका नतीजा कुछ भी हो। आगे क्या होगा यह तो साफ़ दिखायी नहीं देता था; मगर आगे कुछ भी हो, हमें ऐसा मालूम होता था कि हम बहुतों की क़िस्मतों में तो ज़िन्दगी का ज़्यादा हिस्सा जेलों में गुज़ारना ही बदा है। इसी तरह की बातें हम आपस में किया करते थे, और मुझे ख़ास तौर पर याद है कि मेरी जार्ज जोसफ़ से एक बार बात-चीत हुई थी जिसमें हम इसी नतीजे पर पहुँचे थे। उन दिनों के बाद जोसफ़ हमसे दूर-ही-दूर होते चले गये हैं, और यहाँतक कि हमारे कामों के

एक ज़बरदस्त आलोचक भी बन गये हैं। क्या पता लखनऊ-ज़िला-जेल के सिविल वार्ड में शरद्-ऋतु की एक शाम को हुई उस बातचीत की याद उनको कभी आती है या नहीं ?

हम रोज़ाना कुछ काम और कसरत करने में जुट पड़े। कसरत के लिए हम उस छोटे-से अहाते के चारों तरफ़ दौड़कर चक्कर लगाया करते थे, या दो बैलों की तरह से दो-दो आदमी मिलकर अपने सहन के कुएँ से एक बड़ा चमड़े का डोल खींचा करते थे। इस तरह हम अपने अहाते के एक छोटे-से शाक-भाजी के बाग़ में पानी दे देते थे। हममें से ज्यादातर लोग रोजाना थोड़ा-थोड़ा सूत कातते थे। मगर उन जाड़े के दिनों और लम्बी रातों में पढ़ना ही मेरा खास काम था। क़रीब-क़रीब हमेशा जब-जब सुपरिण्टेण्डेण्ट आता तो वह मुझे पढ़ता हुआ ही देखता था। यह पढ़ते रहने की आदत शायद उसे खटकी और उसने इसपर एक बार कुछ कहा भी। उसने यह भी कहा कि मैंने तो अपना साधारण पढ़ना बारह साल की उम्र में ही ख़त्म कर दिया था! बेशक, पढ़ना छोड़ देने से उस बहादुर अंग्रेज़ कर्नल को यह फ़ायदा ही हुआ कि उसे बेचैनी पैदा करनेवाले विचार आये ही नहीं, और शायद इसीके बाद उसे युक्तप्रांत की जेलों के इन्सपेक्टर-जनरल की जगह पर तरक़्क़ी पा जाने में मदद मिली।

जाड़े की लम्बी रातों और हिन्दुस्तान के साफ़ आस्मान ने हमारा ध्यान तारों की तरफ़ खींचा, और कुछ नक़शों की मदद से हमने कई तारे पहचान लिये। हर रात हम उनके उगने का इन्तज़ार करते थे और मानों अपने पुराने परिचितों के दर्शन करते हों इस आनन्द से उनका स्वागत करते थे।

इस तरह हम अपना वक़्त गुज़ारते थे। दिन गुज़रते-गुज़रते हफ़्ते हो जाते और हफ़्ते महीने हो जाते। हम अपनी रोज़मर्रा की रहन-सहन के आदी हो गये। मगर बाहर की दुनिया में असली बोझ तो हमारे महिला-वर्ग पर—हमारी माताओं, पत्नियों और बहनों पर पड़ा। वे इन्तज़ार करते-करते थक गयीं, और जब कि उनके प्यारे जेल के सीखचों

वन्द थे उन्हें अपनेको आजाद रखना बहुत खटकता था।

दिसम्बर १९२१ में हमारी पहली गिरफ्तारी के बाद ही इलाहाबाद हमारे मकान, आनन्द-भवन, में पुलिसवालों ने अक्सर आना-जाना शुरू किया। वे उन जुर्मानों को वसूल करने आते थे, जो पिताजी पर और मुझपर किये गये थे। कांग्रेस की नीति यह थी कि जुर्माना न दिया जाय। इसलिए पुलिस रोज़-रोज़ आती और कुछ-न-कुछ फ़र्नीचर कुर्क करके उठा ले जाती। मेरी चार साल की छोटी लड़की इन्दिरा इस बार-बार की लगातार लूट से बहुत नाराज़ होती थी। उसने पुलिस का विरोध किया और अपनी सख्त नाराज़गी ज़ाहिर की। मुझे आशंका है कि पुलिस-दल के बारे में उसके ये बचपन के भाव उसके भावी विचारों पर असर डाले बिना न रहेंगे।

जेल में पूरी कोशिश की जाती थी कि हमें मामूली ग़ैर-राजनैतिक क़ैदियों से अलग रक्खा जाय। मामूली तौर पर राजनैतिक क़ैदियों के लिए अलग जेलें मुकर्रर कर दी जाती थीं। मगर पूरी तरह अलहदा किया जाना तो नामुमकिन था, और हम उन क़ैदियों से अक्सर मिल लेते थे, और उनसे तथा खुद तजुर्बे से हमने जान लिया कि उन दिनों वास्तव में जेल की जिन्दगी कैसी होती थी। उसे मार-पीट और ज़ोर की रिश्वतखोरी और भ्रष्टता की एक कहानी ही समझना चाहिए। खाना अजीब तौर पर ख़राब था; मैंने कई मर्त्तबा उसे खाने की कोशिश की मगर बिलकुल न खाये जाने लायक़ पाया। कर्मचारी आमतौर पर बिलकुल अयोग्य थे और उन्हें बहुत कम तनख्वाहें मिलती थीं। मगर उनके लिए क़ैदियों या क़ैदियों के रिश्तेदारों से हर मुमकिन मौक़े पर रुपया ऐंठकर अपनी आमदनी बढ़ाने का रास्ता पूरी तरह खुला था। जेलर और उसके असिस्टेण्टों और वार्डरों के फ़र्ज़ और जिम्मेदारियाँ, जेल-मैनुअल में लिखे मुताबिक़, इतनी ज्यादा और इतनी क़िस्म की थीं कि किसी भी आदमी के लिए उन्हें ईमानदारी या योग्यता के साथ पूरा करना नामुमकिन था। युक्तप्रान्त में (और सम्भवतः दूसरे प्रान्तों में भी) जेल-शासन की सामान्य नीति का क़ैदी के सुधार या उसे अच्छी

आदतें या उपयोगी धन्धे सिखाने से कोई ताल्लुक़ न था। जेल की मशक्कत का मक़सद सज़ायाफ़्ता आदमी को तंग करना था[1] और यह कि उसको इतना भयभीत कर दिया जाय और दबाकर पूरी तरह तावे में कर लिया जाय, जिससे जब वह जेल से छूटे तो दिल में उसका डर और ख़ौफ़ लेकर जावे और आयन्दा जुर्म करने और फिर जेल लौटने से बाज़ आवे।

पिछले कुछ बरसों में कुछ सुधार ज़रूर हुए हैं। खाना थोड़ा सुधरा है, और कपड़े वग़ैरा भी सुधरे हैं। यह भी ज्यादातर राजनैतिक क़ैदियों के छूटने के बाद उनके बाहर आन्दोलन करने के कारण हुआ है। असहयोग के कारण वार्डरों की तनख़्वाहों में भी काफ़ी तरक्की हुई है, ताकि वे 'सरकार' के वफ़ादार बने रहें। लड़कों और छोटी उम्र के

---

१. युक्तप्रान्त के जेल-मैनुअल की धारा ९८७ में जो अब नये संस्करण से हटा दी गयी है, लिखा था :—

"जेल में मशक्क़त करना, सिर्फ़ काम देने के लिए ही नहीं बल्कि ख़ासकर सज़ा देने के लिए समझा जाना चाहिए। इसका भी ज्यादा ख़याल न किया जाये कि उससे ख़ूब पैसा पैदा किया जा सकता है। सबसे ज्यादा ज़रूरी बात यह है कि जेल का काम तकलीफ़-देह और मेहनत का होना चाहिए और उससे बदमाशों को ख़ौफ़ पैदा होना चाहिए।"

इसके मुक़ाबिले में रूस के एस० एफ० एस० आर० की ताजीरात फ़ौजदारी की नीचे लिखी धारा देखने योग्य है :—

धारा ९—"सामाजिक सुरक्षा के उपायों का यह मक़सद नहीं है कि शारीरिक यातनायें दी जायँ, न यह है कि मनुष्य के गौरव को गिराया जाय, और न यह मक़सद है कि बदला लिया जाय या दण्ड दिया जाय।"

धारा २६—"सज़ायें देना चूँकि सुरक्षा का ही एक उपाय है, वह तकलीफ़ें देने के उसूल से बिलकुल बरी होना चाहिए, और उससे अपराधी को ग़ैरज़रूरी या फालतू तकलीफ़ न पहुँचनी चाहिए।"

क़ैदियों को पढ़ना-लिखना सिखाने के लिए भी अब थोड़ी-सी कोशिश की जाती है। मगर अच्छे होते हुए भी, इन सुधारों से असली सवाल कुछ भी हल नहीं होता है और अब भी ज्यादातर वही पुरानी स्पिरिट चली आ रही है।

ज्यादातर राजनैतिक क़ैदियों को मामूली क़ैदियों के साथ किये जाने-वाले इस नियमित व्यवहार को ही सहना पड़ा। उन्हें कोई विशेष अधिकार या व्यवहार नहीं मिला, मगर दूसरों से ज्यादा तेज़-तर्रार और समझदार होने के कारण उनसे आसानी से कोई बेजा फ़ायदा नहीं उठा सकता था, न उनसे रुपया ऐंठा जा सकता था। इस सबब से आप ही कर्मचारी उन्हें पसन्द नहीं करते थे, और जब मौक़ा आता तो उनमें से किसीको भी जेल के क़ायदे टूटने पर सख़्त सज़ा दी जाती। ऐसे ही क़ायदे तोड़ने के लिए एक छोटे लड़के को, जिसकी उम्र १५ या १६ साल की थी और जो अपनेको 'आज़ाद' कहता था, बेंत की सज़ा दी गयी। वह नंगा किया गया और बेंत की टिकटी से बाँध दिया गया, और जैसे-जैसे बेंत उसपर पड़ते थे और उसकी चमड़ी फाड़कर घुस जाते थे, वह 'महात्मा गांधी की जय' चिल्लाता था। हर बेंत के साथ वह लड़का यही नारा लगाता रहा, जबतक कि वह बेहोश न हो गया। बाद में वही लड़का उत्तर-भारत के आतंककारी कार्यों के दल का एक नेता बना।

: १४ :

फिर बाहर

आदमी को जेल में कई बातों का अभाव मालूम होता है, मगर सब से ज्यादा अभाव तो शायद स्त्रियों के मधुर वचनों का और बच्चों की हँसी का ही महसूस होता है। जो आवाजें वहाँ आम तौर से सुनायी देती हैं वे कोई बड़ी खुशगवार नहीं होतीं। वे ज्यादातर कठोर और डरावनी होती हैं। भाषा जंगली होती है और उसमें गाली-गलौज भरी रहती है। मुझे याद है कि मुझे एकबार एक नयी चीज़ का अभाव मालूम हुआ। मैं लखनऊ-जिला-जेल में था और अचानक मुझे महसूस हुआ कि सात या आठ महीने से मैंने कुत्ते का भौंकना नहीं सुना है।

जनवरी १९२३ के आखरी दिन लखनऊ-जेल के हम सब राजनैतिक क़ैदी छोड़ दिये गये। उस समय लखनऊ में एकसौ और दोसौ के बीच 'स्पेशल क्लास' के क़ैदी होंगे। दिसम्बर १९२१ या १९२२ के शुरू में जिन लोगों को एक साल या कम की सजा मिली थी, वे सब तो अपनी पूरी सज़ा करके चले गये थे; सिर्फ़ वे जिनकी लम्बी सज़ायें थीं, या जो दुबारा आ गये थे, रह गये थे। इस अचानक रिहाई से हम सबको बड़ा ताज्जुब हुआ, क्योंकि आम रिहाई की पहले से कोई ख़बर न थी। प्रान्तीय कौंसिल ने राजनैतिक क़ैदियों की आम रिहाई कर देने के पक्ष में एक प्रस्ताव भी पास किया था, मगर सरकार की कार्यकारिणी ऐसी माँगों की सुनवाई बहुत कम करती है। लेकिन इस समय ऐसा हुआ कि सरकार की निगाह में यह वक्त मौजूँ था। कांग्रेस सरकार के विरुद्ध कुछ नहीं कर रही थी, और कांग्रेसवाले आपसी झगड़ों में ही फँसे हुए थे। जेल में भी नामी-गिरामी कांग्रेसवाले ज्यादा नहीं थे, इसलिए यह रिहाई करदी गयी।

जेल के फाटक से बाहर निकलने में हमेशा एक राहत का भाव और आनन्दोल्लास रहता है। ताज़ा हवा और खुले मैदान, सड़कों पर के

बदलते हुए दृश्य, और पुराने मित्रों से मिलना-जुलना; ये सब दिमाग़ में एक खुमारी लाते हैं और कुछ-कुछ दीवाना-सा बना देते हैं। बाहर की दुनिया को देखने से पहलेपहल जो असर होता है उसमें कुछ पागलों का सा एक आनन्द छाया रहता है। हमारा दिल उछलने लगा, मगर यह जोश रहा थोड़ी देर के लिए ही, क्योंकि कांग्रेस-राजनीति की दशा काफ़ी निराशाजनक थी। ऊँचे आदर्शों की जगह षड्यंत्र होने लगे थे, और कई गुट उन सामान्य तरीकों से कांग्रेस-तन्त्र पर कब्ज़ा करने की कोशिश करने लगे थे, जिनसे कुछ कोमल भावना रखनेवाले लोगों की निगाह में राजनीति एक घृणित शब्द बन गया है।

मेरे मन का झुकाव तो कौंसिल-प्रवेश के बिल्कुल ख़िलाफ़ था, क्योंकि इसका ज़रूरी नतीजा यह मालूम होता था कि समझौता करने की चालें करनी पड़ेंगी और अपना लक्ष्य हमेशा नीचा करना पड़ेगा। मगर सच पूछो तो देश के सामने कोई दूसरा राजनैतिक प्रोग्राम ही न था। अपरिवर्तनवादी 'रचनात्मक कार्यक्रम' पर ज़ोर देते थे, जो कि दरअसल सामाजिक सुधार का कार्यक्रम था और जिसका मुख्य गुण यह था कि उससे हमारे कार्यकर्त्ताओं का जनता से सम्पर्क पैदा हो जाय। मगर इससे उन लोगों को तसल्ली नहीं हो सकती थी जो राजनैतिक कार्य में विश्वास करते थे, और यह कुछ अनिवार्य ही था कि सीधे संघर्ष की लहर के बाद, कि जो कामयाब न हुई हो, कौंसिल-सम्बन्धी कार्यक्रम आगे आवे। यह कार्यक्रम भी देशबन्धुदास और मेरे पिताजी ने, जोकि इस नये आन्दोलन के नेता थे, सहयोग और रचना के लिए नहीं बल्कि बाधा डालने और मुक़ाबिला करने की दृष्टि से सोचा था।

देशबन्धु दास कौंसिलों में भी राष्ट्रीय संग्राम को जारी रखने के उद्देश्य से वहाँ जाने के पक्ष में हमेशा रहे थे। मेरे पिताजी का भी लगभग यही दृष्टिकोण था। १९२० में जो उन्होंने कौंसिल का बहिष्कार मंज़ूर किया था, वह कुछ अंशों में अपने दृष्टिकोण को गांधीजी के दृष्टिकोण के अधीन कर देने के रूप में था। वह लड़ाई में पूरी तरह शामिल हो जाना चाहते थे, और उस समय ऐसा करने का एक ही रास्ता था कि

गांधीजी के नुस्खे को सोलहों आना आजमाया जाय। कई नौजवानों के दिमाग़ में यह भरा हुआ था कि जिस तरह सिनफ़ीन ने पार्लमेण्ट की सीटों पर कब्ज़ा कर लिया और फिर वे कामन्स-सभा में दाखिल नहीं हुए, उसी तरह यहाँ भी किया जाय। मुझे याद है कि मैंने १९२० की गर्मियों में गांधीजी पर बहिष्कार के इस तरीक़े को अख़्त्यार करने के लिए ज़ोर दिया था, मगर ऐसे मामलों में वह झुकनेवाले नहीं थे। मुहम्मदअली उन दिनों खिलाफ़त सम्बन्धी एक डेपुटेशन के साथ यूरप में थे। लौटने पर उन्होंने बहिष्कार के इस तरीके पर अफ़सोस ज़ाहिर किया था। उन्हें सिनफ़ीन-मार्ग ज्यादा पसंद था। मगर दूसरे व्यक्ति इस मामले में क्या विचार रखते हैं, इस बात की कोई वक़त न थी; क्योंकि आखिरकार गांधीजी का दृष्टिकोण ही क़ायम रहने को था। वही आन्दोलन के जन्मदाता थे, इसलिए यह खयाल किया गया कि व्यूह-रचना के बारे में उन्हींको पूर्ण स्वतन्त्रता रहनी चाहिए। सिनफ़ीन तरीक़े के बारे में उनके खास ऐतराज (हिंसा से उसका सम्बन्ध होने के अलावा) यह थे कि जनता यह सीधी बात ज्यादा आसानी से समझ सकती है कि वोट देने के मुकामों का और वोट देने का बहिष्कार कर दिया जाय, मगर सिनफ़ीन तरीक़े को मुश्किल समझेगी। चुनाव करवा लेने और फिर कौंसिलों में न जाने से जनता के दिमाग़ में उलझन पैदा हो जायगी। इसके सिवा, अगर एक बार हमारे लोग चुन दिये गये तो वे कौंसिलों की तरफ़ ही खिचेंगे और उन्हें उसके बाहर रखना मुश्किल होगा। हमारे आन्दोलन में इतना अनुशासन और शक्ति नहीं है कि देर तक उन्हें बाहर रक्खा जा सके, और धीरे-धीरे अपनी स्थितियों से गिरकर लोग कौंसिलों के ज़रिये सरकारी आश्रय का प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष रूप से फ़ायदा उठाने लगेंगे।

इन दलीलों में सचाई काफ़ी थी, और सचमुच १९२४-२६ में जब स्वराजपार्टी कौंसिल में गयी तब बहुत-कुछ ऐसा ही हुआ भी। फिर भी कभी-कभी विचार आ ही जाता है, कि अगर कांग्रेस १९२० में कौंसिलों पर क़ब्ज़ा करना चाहती तो क्या हुआ होता? इसमें शक नहीं हो

कता कि चूंकि उस समय खिलाफ़त-कमिटी भी साथ थी, वह प्रान्तीय या केन्द्रीय दोनों ही कौंसिलों की क़रीब-क़रीब हर सीट को जीत कती थी। आज (अगस्त, १९३४ में) यह फिर चर्चा है कि कांग्रेस सेम्बली के लिए उम्मीदवार खड़े करे, और एक पार्लमेण्टरी-बोर्ड भी गया है। मगर १९२० के बाद से हमारे सामाजिक और राजनैतिक विन में कई बड़ी-बड़ी दरारें पड़ चुकी हैं, अतः अगले चुनाव में कांग्रेस ो कितनी भी कामयाबी क्यों न मिले वह इतनी नहीं हो सकती जितनी १९२० में हो सकती थी।

जेल से छूटने पर कुछ दूसरे लोगों के साथ मैंने भी कोशिश की कि परिवर्तनवादी और अपरिवर्तनवादी दलों में कुछ समझौता हो जाय। किन्तु हमें कुछ भी सफलता न मिली, और मैं इन झगड़ों से ऊब उठा। ब मैं तो संयुक्तप्रान्तीय कांग्रेस-कमिटी के मन्त्री की हैसियत से कांग्रेस ो संगठित करने के काम में लग गया। पिछले साल के धक्कों से बहुत छिन्न-भिन्नता आगयी थी और उसे दूर करने के लिए काम बहुत था। ने बहुत मेहनत की, मगर उसका कोई नतीजा न निकला। असल में रे दिमाग़ के लिए कोई काम न था। मगर जल्दी ही मेरे सामने एक यी तरह का काम आ खड़ा हुआ। मेरी रिहाई के कुछ हफ्तों के अन्दर ी मैं इलाहाबाद-म्युनिसिपैलिटी की सदारत पर बैठा दिया गया। यह नाव इतना अचानक हुआ कि घटना के पैंतालीस मिनट पहले तक इस बाबत किसीने भी मेरे नाम का ज़िक्र नहीं किया था, बल्कि मेरा खयाल क नहीं किया था। मगर अन्तिम घड़ी में कांग्रेस-पक्ष ने यह अनुभव किया कि मैं ही उनके दल में एक ऐसा आदमी हूँ जिसका कामयाब होना निश्चित था।

उस साल ऐसा हुआ कि देशभर में बड़े-बड़े कांग्रेसवाले ही म्युनिसिपैलिटियों के प्रेसिडेन्ट बन गये। देशबन्धु दास कलकत्ता के पहले मेयर बने, विट्ठलभाई पटेल बम्बई कार्पोरेशन के प्रेसिडेन्ट बने, सरदार वल्लभभाई अहमदाबाद के बने। युक्तप्रान्त में ज्यादातर बड़ी म्युनिसिपैलिटियों में कांग्रेसी ही चेयरमैन थे।

अब तो मुझे म्युनिसिपैलिटी के सभी मुख्तलिफ़ कामों में दिलचस्पी पैदा होने लगी और मैं उसमें ज्यादा-से-ज्यादा वक़्त देने लगा। उसके कई सवालों ने तो मुझे लुभा ही लिया। मैंने इस विषय का खूब अध्ययन किया और म्युनिसिपैलिटी का सुधार करने के मैंने बहुत बड़े-बड़े मनसूबे बांधे। बाद में मुझे मालूम हुआ कि आजकल हिन्दुस्तानी म्युनिसिपैलिटियों की रचना जिस तरह की गयी है उसके रहते हुए उनमें बड़े सुधारों या उन्नति के लिए बहुत कम गुंजाइश है। फिर भी काम करने के लिए और म्युनिसिपल तन्त्र को साफ़-सूफ़ करने और सुगम बनाने की गुंजाइश तो थी ही, और मैंने इस बात के लिए काफ़ी मेहनत की। उन्हीं दिनों मेरे पास कांग्रेस का काम भी बढ़ रहा था, और प्रान्तीय सेक्रेटरी के अलावा मैं अखिल-भारतीय सेक्रेटरी भी बना दिया गया था। इन मुख्तलिफ़ कामों की वजह से अक्सर मुझे रोज़ाना पन्द्रह-पन्द्रह घंटे तक काम करना पड़ता था, और दिन खत्म होने पर मैं अपने को बिलकुल थका हुआ पाता था।

जेल से घर लौटने पर मेरी आँखों के सामने जो पहला खत आया वह इलाहाबाद-हाईकोर्ट के तत्कालीन चीफ़ जस्टिस सर ग्रिमवुड मियर्स का था। यह खत मेरे छूटने से पहले लिखा गया था, मगर ज़ाहिरा यह जानते हुए लिखा गया था कि रिहाई होनेवाली है। उसकी सौजन्यपूर्ण भाषा और उनसे अक्सर मिलते रहने के उनके निमन्त्रण से मुझे थोड़ा ताज्जुब हुआ। मैं उन्हें नहीं जानता था। वह इलाहाबाद में अभी १९१९ में ही आये थे, जबकि मैं वकालत के पेशे से दूर होता जाता था। मेरा खयाल है कि उनके सामने मैंने सिर्फ़ एक ही मुकदमे की बहस की थी, और हाइकोर्ट में मेरा वह आखिरी ही मुक़दमा था। किसी-न-किसी कारण से, मुझे ज्यादा जाने-बूझे बिना ही मेरी तरफ उनका कुछ अधिक झुकाव होने लगा। उनकी यह आशा थी, उन्होंने मुझे बाद में बताया, कि मैं खूब आगे बढ़ूंगा, और इसलिए मुझे अंग्रेजों के दृष्टिकोण समझाने में वह मुझपर अपनी नेक सलाह का असर डालना चाहते थे। वह बड़ी बारीकी से काम कर रहे थे। उनकी राय थी, और अब भी कई अंग्रेज़ ऐसा ही समझते हैं, कि हिन्दुस्तान के साधारण 'गरम' राजनीतिक ब्रिटिश-विरोधी

सलिए हो गये हैं कि सामाजिक क्षेत्र में अंग्रेज़ों ने उनके साथ बुरा र्ताव किया है। इसीसे रोब, तीव्र दुःख और 'गरम-पन' पैदा हो गया । यह कहा जाता है, और इसे कई जिम्मेदार लोगों ने भी दोहराया कि मेरे पिताजी को एक अंग्रेज़ी क्लब में नहीं चुना गया इसीसे वह टिश-विरोधी और 'गरम' विचार के हो गये। यह बात क़तई बेबुनि- याद है, और एक बिलकुल दूसरी तरह की घटना का विकृत रूप है।[1] गर कई अंग्रेजों को ऐसी मिसालें, चाहे वे सही हों या ग़लत, राष्ट्रीय आन्दोलन की उत्पत्ति का सीधा और काफ़ी कारण मालूम होती हैं। रहक़ीक़त, मेरे पिताजी को और मुझे इस मामले में कोई खास शिकायत थी ही नहीं। व्यक्तिगत रूप से अंग्रेज़ हमेशा हमसे शिष्टता से पेश आते थे। और उनसे हमारी अच्छी बनती है, हालाँकि सभी हिन्दुस्तानियों की तरह बेशक हमें अपनी जाति की गुलामी का अहसास रहा और वह हमें हद ज्यादा खटकती रही। मैं मानता हूँ कि आज भी मेरी अंग्रेज़ों से बहुत अच्छी पटती है, बशर्ते कि वह कोई अधिकारी न हो और मुझपर हुक्मरानी न जताता हो। और इतने भी हमारे सम्बन्धों में खुशमिजाजी की कमी नहीं होती। शायद नरम दलवालों तथा अन्य लोगों की बनि- स्बत, जो हिन्दुस्तान में अंग्रेज़ों से राजनैतिक सहयोग करते हैं, मेरा अंग्रेज़ों से ज्यादा मेल खाता है।

सर ग्रिमवुड का इरादा था कि दोस्ताना मेल-जोल, सरल और शिष्टतापूर्ण बर्ताव के द्वारा कटुता के इस मूल कारण को निकाल डालें। मेरी उनसे कई बार मुलाक़ात हुई। किसी-न-किसी म्यूनिसिपल टैक्स पर ऐतराज़ करने के बहाने वह मुझसे मिलने के लिए आया करते थे और दूसरी बातों पर बहस किया करते थे। एक मर्तबा उन्होंने हिन्दुस्तान के लिबरलों पर खूब हमला किया। वह उन्हें डरपोक, ढीले, मौक़ापरस्त— जिनमें न चरित्र-बल है, न दम-खम—कहने लगे, और उनकी भाषा में

1. इस घटना का ज्यादा हाल जानने के लिए अध्याय ३८ का फुटनोट देखिए।